नव-मानववाद

एक घोषणा-पत्र

लेखक

एम. एन. राय

अनुवादक

रामचन्द्र बोड़ा

(सांस्कृतिक नवजागरण)

नव जागरण संस्थान

जयपुर/जोधपुर

मूल्य : 5 रुपये

भूमिका

भारत की रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी ने 1946 के दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में बम्बई अधिवेशन में नवमानववाद के सिद्धान्तों का उल्लेख कर उस आशय का एक घोषणा-पत्र प्रसारित करने का निर्णय लिया था। नवमानववाद के उन सिद्धान्तों का जिन्हें पार्टी पिछले छः सालों से विकसित करती आ रही थी, इस अधिवेशन में उन सिद्धान्तों को थीसिस के रूप में पारित किया गया था। उस निर्णय के अनुसार उस प्रसारित किये जाने वाले घोषणा-पत्र के मसविदे को केन्द्रीय राजनैतिक समिति की 23 मई से 25 मई की बैठक के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। यह मसविदा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर दिये गये पार्टी के वक्तव्य और उस थीसिस का ही विस्तार होने के कारण केन्द्रीय राजनैतिक समिति द्वारा सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया गया। उस मसविदे के लेखक होने के नाते मैंने दल की ओर से उसके विमोचन की औपचारिकता को निभाया और उसके प्रकाशन को कुछ और समय तक रोके रखने की बात की। मेरी यह बात इस आशय के साथ मान ली गई कि मसविदे का फिलहाल प्रकाशन कर दिया जाय ताकि संसार की समूची प्रगतिशील ताकतें इस पर विचार कर सकें। लेकिन यह मेरे व्यक्तिगत विचारों का ज्ञापन नहीं है। मेरे द्वारा तैयार किये गये मूल मसविदे को मित्रों के अमूल्य सुझावों के कारण काफी बदल दिया गया था जिसके लिए मैं उनका आभारी हूं। फिलिप स्प्राट, सिकन्दर चौधरी और वी. एम. तारकुण्डे के नाम इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन दार्शनिक सूत्रों, सामाजिक शर्तों, राजनैतिक सिद्धान्तों और इस प्रकाशन में विश्व परिस्थितियों के प्रति व्यवहृत दृष्टिकोण को सर्वांगीण तौर पर मार्क्सवादी आलोचकों और भूतपूर्व कम्युनिस्टों द्वारा विकसित किया जाता रहा है। इन्हीं लोगों ने एक ओर राष्ट्रवादियों से और दूसरी ओर रूढ़ कम्युनिस्टों से मतभेद होने के कारण 1940 में रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की थी। यद्यपि इनसे हमारा नाता द्वितीय विश्व युद्ध के प्रसंग को लेकर तत्काल टूट गया था; हमारा मतभेद दार्शनिक और नैतिक प्रश्नों के कारण मौलिक था। इस मौलिक दृष्टिकोण

के कारण हमें राष्ट्रवाद और साम्यवाद में कोई भेद नजर नहीं आया। क्योंकि साम्यवादियों विशेषकर भारत में साम्यवादियों ने युद्ध के तात्कालिक प्रसंगों के कारण विशुद्ध तौर पर राष्ट्रवादी दृष्टिकोण अपना लिया था।

युद्ध के आरम्भिक वर्षों में भारत में 'रेडिकल्स' संसार के अन्य लोगों से अलग पड़ गये थे। लेकिन बाद में यह अलगाव ज्योंही आंशिक तौर पर टूटा, हमें लगा कि संसार के अन्य लोग भी एक नये सामाजिक और राजनैतिक पुर्नविवेचन में लगे हुए हैं। उस प्रवृत्ति का स्वागत करते हुए, जो समय की मांग के अनुकूल थी, हमने अनुभव किया कि राजनैतिक प्रयोग और आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रति केवल पुर्नविवेचन से ही समकालीन संसार की समस्यायें नहीं सुलझेंगी। वह तो एक सांस्कृतिक संकट से गुजर रहा है और वह जीवन के प्रति नये व्यवहार की मांग करता है—एक नई सामाजिक विचारधारा की, एक नई दार्शनिक प्रणाली की।

हमारे युग को उस संकट से उबारने का यह एक अकिंचन प्रयास है। हालांकि वास्तविक लोकतन्त्र के सिद्धान्त ही घोषणा-पत्र की मूल भीतिका है, इस विषय की पृष्ठ-सामग्री मेरी पुस्तक–'नव-मूल्यांकन' और 'कम्युनिज्म' से आगे, में मिलेगी।

देहरादून — एम. एन. राय
16 अगस्त, 1947.

विषय-सूचि

१. कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र से अब तक। १
२. समकालीन विचारधाराओं की अपर्याप्तताएं। ३
३. कम्युनिस्ट सिद्धान्त और प्रयोग का पतन। ८
४. मार्क्सवाद की उदार वंश-परम्परा। १२
५. क्रांति का मार्क्सवादी सिद्धान्त। १७
६. एक नया राजनैतिक-दर्शन। २४
७. वास्तविक लोकतंत्र। २७

कम्युनिस्ट घोषणा से अब तक

सर्वहारा क्रान्ति के आह्वान के तौर पर जिस कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र का प्रकाशन किया गया था उसे प्रकाशित हुए एक शताब्दी का समय हो गया है। उससे यूरोप में साम्यवाद का हौवा खड़ा हुआ है और उभरते अभिजात वर्ग के हृदय में आतंक की लहर फैली है। उस समय का यह वास्तविक चित्रण न होते हुए भी वह चित्रण एक तरह से आज सही है। पूंजीवादी शोषण से पीड़ित सभ्य-जगत के उद्धार के रूप में तब जो उद्घोष किया गया था, वही आज साम्यवाद के व्यवहार के रूप में एक हौवा बनकर सामने आया है। वह केवल अभिजात वर्ग को ही आतंकित नहीं कर रहा है वरन् आधुनिक जगत की प्रगतिशील ताकतों के लिए भी चिन्ता का विषय बना हुआ है। उन प्रगतिशील ताकतों के लिए भी जो समाज के राजनैतिक और आर्थिक सम्बन्धों में आमूलचूल परिवर्तन की तात्कालिक आवश्यकता का अनुभव करती हैं। ये ताक़तें सांस्कृतिक-मूल्य को मानव-निधि मानते हुए यह चाहना करती हैं कि वे सांस्कृतिक-मूल्य कहीं क्रान्ति के बवंडर में निर्दयता से खो नहीं जाय।

यह इतिहास की भाग्य रेख है या मानव के भाग्य की ? वह चाहे कुछ भी हो यह इस तथ्य के कारण है कि सर्वहारा क्रान्ति का वह युग जिसकी उद्घोषणा बड़े गाजे-बाजे और विश्वास के साथ एक शताब्दी पूर्व की गई थी, वह अभी अवतरित नहीं हुआ है। लगभग दो तिहाई शताब्दी का समय गुजर गया है और एक पूर्व निर्धारित ढांचे के रूप में देश में वांछित क्रान्ति हुई भी है। लेकिन उसका विस्तार जगत-क्रान्ति के रूप में नहीं हुआ है। रूस में भी क्रान्ति के बाद विकास की गति सन्तोषजनक नहीं रही है वह कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में चित्रित उटोपिया का आश्वासन नहीं देता। इस क्रान्ति के पहले भी सर्वहारा क्रान्ति की प्रेरणा मौलिक तौर पर ठंडी पड़ गई थी और उसकी मानववादी रोमांचकारिता की चमक-दमक फीकी पड़ गई थी। क्रान्ति की एक देश में सफलता ने प्रयोजनात्मक तौर पर यह सिद्ध कर दिया कि क्रान्ति के बाद बनी नई सामाजिक व्यवस्था ऐसे विद्रोहियों की उपज नहीं थी जो प्रोमेथस जैसी मानी जाय। मानवीय क्रियात्मकता को बौद्धिक, नैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में बढ़ावा नहीं दिया जा सका। नई सामाजिक व्यवस्था ने सर्वहारा के सामूहिक अहं को ही

उजागर किया है ताकि निम्न वर्गों को बनाने वाले व्यक्तियों से त्याग की बात कर उन्हें गुलाम रखा जा सके।

क्रान्ति की इस भ्रूण हत्या का परिणाम त्रासदी पूर्ण रहा है। जब अंततोगत्वा सर्वहारा क्रान्ति का समारम्भ हुआ तब एक सफल प्रति-क्रान्ति का स्वरूप ही सामने आया—एक प्रति-क्रान्ति के युग के रूप में। वह वास्तव में इतिहास की भाग्य-रेख थी।

कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र ने घोषणा की थी कि मानव-इतिहास का श्री गणेश सर्वहारा क्रान्ति से आरम्भ होगा, इसके पहले तब तक, वह प्राग्-ऐतिहासिकता का युग रहा। बाद में मनुष्य युगों-युगों तक वर्ग-जनित समाज में ही बंटा रहा है। सर्वहारा क्रान्ति के बाद जगत-क्रान्ति होगी जिससे स्वतंत्र मानव अभिभूत होगा। यह इतिहास की प्रेरणादायक व्याख्या अवश्य थी। परन्तु वह इतिहास की अनुचित व्याख्या थी। क्योंकि प्रथम सर्वहारा क्रान्ति ने वांछित जगत-क्रान्ति को नहीं संजोया। इतिहास का शुभारम्भ नहीं हुआ। उसी प्राग्-ऐतिहासिक युग में निवास करते हुए—बर्बर नियमों से संचालित होते हुए ऐसा लगा है कि सभ्य जगत का अन्त नजदीक आ गया है। एक तीसरा विश्व-युद्ध, पिछले युद्धों की तुलना में अधिक प्रलयङ्कारी होगा—एक अर्द्ध शताब्दि के दौरान—उसका अन्य कोई परिणाम नहीं हो सकता।

प्रथम विश्व-युद्ध पूंजीवाद के अंतर्विरोध और साम्राज्यवादी ताकतों की प्रतिस्पर्द्धा का फल था। उसी के कारण देर-अबेर से होने वाली सर्वहारा-क्रान्ति सम्भव हुई। तत्पश्चात् मार्क्सवादी द्वन्दात्मकता व्यवहार में आई—प्रतिशोध की भावना लेकर। साम्यवाद के संवाद के रूप में फासिज्म का उद्भव हुआ; द्वितीय विश्व-युद्ध का पर्व क्षेत्र प्रतिषेध का प्रतिषेध के रूप में होना ही था, परन्तु वास्तव में उस ने वह परिस्थिति उत्पन्न कर दी है जो एक और विश्व-युद्ध की ओर अग्रसर हो रही है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ उस भयावह स्थिति की ओर बढ़ रही है स्वयं वे जो विश्व-युद्ध से प्रताड़ित सभ्यता का निस्तार करने वाले थे, बेतहाशा तरीके से उस समाज को विकराल उपत्यका की ओर धकेल रहे हैं।

कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में सर्वहारा क्रान्ति उदभाषित है। उस का श्री गणेश रूसी क्रान्ति से माना जाता है। उसने वास्तव में एक अच्छी सभ्यता को जन्म नहीं दिया है—दिशा संकेत चिन्त्य है। क्या शताब्दी की समूची आशा दिवा-स्वप्न निकली है—उसका पटाक्षेप एक विराट् हतोत्साह के रूप में हुआ है। वह केवल रात्रि का दु:स्वप्न ही था?

———

समकालीन विचारधाराओं की अपर्याप्तताएँ

मानवजाति के अच्छे भविष्य के लिए उत्प्रेरित विचारकों को अन्धकारमय परिस्थितियों के कारण चिन्तित होना स्वाभाविक है। उन्हें हतोत्साहित और भाग्यवादी होकर खड़े नहीं रह जाना है। उन्हें भरे पूरे रूप से उन कारणों पर विचार करना होगा जो सभ्य-जगत के अस्तित्व के लिए खतरा पैदा कर रहे हैं। उन्हें उन कारणों को दूर करने का भागीरथ प्रयास करना होगा।

शुरू से ही हमें तर्क-संगत आवाज उठानी होगी। सभ्य-जगत को अन्ध-विश्वास और रूढ़ परम्पराओं की अनेक किस्मों के प्रति सजग करना होगा—उस अंध-विश्वास और रूढ़ परम्पराओं के अनेक प्रकारों के प्रति जो निपट पागलपन का वातावरण तैयार कर रहे हैं। यह सोचना वज्र-मूर्खता है और पाशविक तौर पर अनुत्तरदायित्व पूर्ण बात है कि तीसरा महायुद्ध अवश्यम्भावी है और वह पुरानी दुनिया का संहार कर देगा और नई के लिए उर्वरा भूमि तैयार कर देगा। मार्क्सवाद की आर्थिक व्याख्या वाले सिद्धान्त के आधार पर ऐसा सोचा जा सकता है। वास्तव में ऐसा मानव संस्कृति की गत्यात्मकता के प्रति अज्ञानता को प्रकट करता है और सनकीपन को प्रकट करता है जिसके कारण यह विश्वास बनाये रखा जाता है कि 'प्राग्-इतिहास' के नियामक बर्बरता के नियम हैं।

यदि सर्वहारा क्रान्ति की अन्तिम विजय एक और युद्ध से होती है तो हमें लगता है क्रान्ति की शक्तियाँ एक विजय की परिधि तक पहुँच गई है। इस बात को मानने के लिए बड़े भारी चातुर्य की आवश्यकता नहीं है कि अगला युद्ध प्रलयङ्कारी होगा, उस से आवश्यक रूप से आधुनिक सभ्यता पूरी तरह से विघटित हो जायगी। उस खतरे को दूर करने के भरसक प्रयास किये जाने चाहिए। ऐसा तभी किया जा सकता है जब कि एक उटोपिया को लेकर बनी घिसी-पिटी राजनैतिक शरणियों और सैद्धान्ति-स्थापनाओं को बदला जाय, जिनको इतिहास ने निर्दयता से बेनकाब कर दिया है। लगता है कि जिस महा-युद्ध की ओर हठात् हमारा समाज बढ़ रहा है, उसे न तो तथाकथित पाश्चात्य लोकतंत्र और न रूसी साम्यवाद ही रोक सकता है। इन प्रतिद्वंदियों में से एक भी ऐसा सन्तोषजनक नेतृत्व नहीं दे पा रहा है जो

तत्कालीन समाज को उस संकट से उबार सके। पाश्चात्य लोकतंत्र केवल एक संस्थागत ढांचे का आश्वासन दे रहा है। इस के विपरीत साम्यवाद एक आदर्श की बात करता है—ऐसे आदर्श की जो व्यवहार में यूटोपिया की समूची चमक-दमक खो चुका है विशेषकर उन सब व्यक्तियों के लिए जिन्होंने स्वतंत्र-जगत के निर्माण के लिए तानाशाही-शक्तियों और आध्यात्मिक-योजनाबद्धता से संघर्ष लिया है।

युद्धोत्तर काल में प्रगतिशील ताकतें उस पाश्चात्य लोकतांत्रिक और साम्यवादी नेतृत्व का सामना करती रही है जो अभी भी लोकतांत्रिक स्वतंत्रता, आर्थिक समानता और सांस्कृतिक-मूल्यों को लाने में तत्पर है। इन नई प्रगतिशील ताकतों में तथाकथित पाश्चात्य लोकतांत्रिक ताकतों और साम्यवादी ताकतों से तालमेल नहीं बैठ सकता क्योंकि वहां व्यवहार की एकरूपता और मूल्यों के प्रति समान समझ विद्यमान नहीं है। उस कारण उनमें न तो परस्पर एकत्व ही बन पायगा और न परस्पर सहयोग ही। इसका सीधा नतीजा यह हुआ कि सब एक-दूसरे को संशय की दृष्टि से देख रहे हैं। सब शंकालु बने हुए हैं और एक-दूसरे की पीठ पर छुरा भोंकने की घात में हैं। एक साधारण अस्थाईपन मुँह बाँये खड़ा है और आने वाले युद्ध से भयाकुल है। इतिहास के इस भयानक संकट में सभ्य-जगत में आशा की किरण की आवश्यकता है—एक नये विश्वास की, एक नये आदर्श की—क्रान्ति के एक नये दार्शनिक सिद्धान्त और व्यवहार की जो समय की परिस्थितियों के अनुकूल हो।

फिलहाल दुखान्त अवश्यम्भावी लगता है। यूरोप का युद्धोत्तर नाटक ग्रीक दुखान्त के भाग रेख की तरह खुलता दृष्टिगोचर हो रहा है। एक ओर रूस के साम्यवादी और उसके पिछलग्गू एकात्मकतावादी राजनैतिक दल की तानाशाही में विश्वास रखने के कारण यह विश्वास नहीं करेंगे कि समाजवाद की स्थापना लोकतांत्रिक तरीके से भी की जा सकती है। दूसरी ओर समूचे यूरोप की ईमानदार प्रगतिशील शक्तियाँ, जिन्होंने पूंजीवाद में अपना विश्वास खो दिया है और जो नये समाज की संरचना में सहयोग करने को तत्पर है; तानाशाही के विचारों से प्रतिरोध करते हैं, क्योंकि, विशेषकर उन्होंने फासिज्म के विरुद्ध संघर्ष में तानाशाही का बुरा अनुभव किया है। उन लोकतांत्रिक देशों में निवास करने वाले समाजवादी भी किसी भी प्रकार की तानाशाही को सहन नहीं करेंगे। इस तरह तथाकथित पाश्चात्य लोकतांत्रिक ताकतों और रूसी साम्यवादी ताकतों में विरोधी मत के कारण प्रगतिशील तत्वों के साथ किसी भी प्रकार का संवाद या तालमेल नहीं बैठ सकेगा।

यूरोप का पिछली एक चौथाई शताब्दी का राजनैतिक इतिहास सोशल-डेमोक्रेटिक और कम्युनिस्ट पार्टियों में अन्तहीन दोषारोपण से उत्पन्न कटुता का इतिहास

रहा है। इस खेदजनक परम्परा को नहीं भुलाया जा सकता। वह कोई ऊपरी मतभेद नहीं था। लोकतंत्र और तानाशाही की धारणा परस्पर विरोधी धारणाएँ हैं। वे तार्किक तौर पर विरोधी दार्शनिक शरणियों, प्रतिवाद वाली दैनिक मान्यताओं और सामाजिक व्यवहार से सम्बन्धित हैं।

मानववादी परम्पराओं से प्रेरणा लेकर लोकतांत्रिक समाजवादी या सामाजिक लोकतंत्रवादी सामाजिक संगठन की कल्पना स्वच्छंद व्यक्तियों के समन्वय के रूप में करते हैं। स्वच्छंद या स्वतंत्र व्यक्ति सामाजिक व्यवहार किसी दबाव में आकर नहीं करते हैं और न ही किसी सामूहिक अहँ के देवता के प्रति श्रद्धा के कारण करते हैं बल्कि वे ऐसा स्वतंत्रता से उद्भूत अपनी नैतिक मान्यताओं के कारण करते हैं। इसके विपरीत तानाशाही की भावधारा आधुनिक सभ्यता की सांस्कृतिक धरोहर से अपना नाता तोड़ कर चलती है। वह उन समूचे सामाजिक और नैतिक मूल्यों का प्रतिषेध मात्र है जिन्होंने नव-जागरण के समय ईसाईयत और पवित्र रोमन साम्राज्य के एतत-पक्ष के प्रति विद्रोह के कारण बने मानव जाति के मुक्तिदायक पहलू को उद्भासित किया था। ऐसी स्थिति के कारण इन दो विचार-धाराओं का समन्वय जो आज संसार को दो खेमों में विभक्त किये है, सम्भव नहीं है। न ही एक विचारधारा दूसरी विचारधारा का आत्मसात कर सकेगी, अपने प्रभाव क्षेत्र में ला सकेगी और न ही अधिकांश मात्रा में अनुयायियों को अपनी ओर आकर्षित कर सकेगी। चूंकि ये दोनों विचार-धाराऐं अपने आप में खंडित हैं, समकालीन संसार की आवश्यकताओं की पूर्ति अपर्याप्त होने के कारण पूरी नहीं कर सकेगी। दोनों ही विचार-धाराऐं—तथाकथित पाश्चात्य लोकतांत्रिक और रूसी कम्युनिस्ट विचारधारा अनुभव की कसौटी पर खरी नहीं उतरी हैं।

तानाशाही का सैद्धान्तिक और व्यवहारिक पक्ष—वांछित उद्देश्य की प्राप्ति के भी प्रतिकूल है। साथ ही संसदात्मक लोकतंत्र की सीमितताओं की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसमें नागरिक स्वतंत्रता एक औपचारिकता बन कर रह जाती है। मार्क्सवाद के इस दृष्टिकोण को कि संसदात्मक लोकतंत्र भी एक प्रकार की वर्ग-तानाशाही है न मानते हुए भी क्योंकि इस दृष्टिकोण का आसानी से खंडन नहीं किया जा सकता—आधुनिक इतिहास के चतुर विद्यार्थियों को यह जान लेना चाहिए कि संसदात्मक लोकतंत्र की अपर्याप्ताऐं उसमें अंतर्निहित हैं। आज के आधुनिक संश्लिष्ट औद्योगिक समाज में—व्यक्तिगत नागरिक—विशेषकर वे अधिकांश नागरिक जो आर्थिक विषमता के शिकार हैं अपनी प्रभुसत्ता का उपयोग करने में सक्षम नहीं रहते यद्यपि उन्हें वह अधिकार प्राप्त है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि संसदात्मक लोकतंत्र में लोक कार्यकारिणी पर अधिकार नहीं बनाये रख सकता। दो चुनावों

के बीच में उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता। इस अवधि में संसद में बहुमत प्राप्त दल वैधानिक तौर पर तानाशाह बन सकता है। सत्ता के इस सामान्य दुरुपयोग की लोकतांत्रिक स्वीकृति के बावजूद उसकी कोई वैधानिकता नहीं रहती है। बहुमत दल का नैतिक समर्थन ही उसका आधार है। अतः संसद यथारूप से किसी भी प्रकार लोकतंत्र की रक्षा नहीं कर सकता और न ही हर परिस्थितियों में नागरिक स्वतंत्रता का आश्वासन दे सकता है। केवल हिटलर ही लोकतांत्रिक तरीके (के माध्यम) से सत्तारूढ़ नहीं हुआ वरन् पिछली चौथाई शताब्दी का इतिहास इस बात का साक्षी है कि संसार में ऐसे कई देश रहे हैं जहाँ तानाशाही लोकतांत्रिक तरीके से पनपी है। यद्यपि यह दूसरी बात है कि एक बार लोकतांत्रिक तरीके से सत्ता हथियाने के बाद लोकतांत्रिकता की सीढ़ी को ठोकर लगा दी जाती है।

संसदात्मक लोकतंत्र का मूल दोष उदारवाद के दार्शनिक और राजनैतिक प्रयोग के परस्पर अन्तर्विरोध (का ही फल) है। मानववादी परम्पराओं के समीप होते हुए उदारवाद ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को उद्घोषित किया था, परन्तु उस की ल' सफार के आर्थिक सिद्धान्त उसके राजनैतिक प्रेमयोपपाद्य सहित, व्यक्ति को हास्यास्पद स्थिति में ला खड़ा करता है—एक दमलेवा प्रतिस्पर्द्धा के रूप में। इन परिस्थितियों में उदारवाद के राजनैतिक और सामाजिक प्रयोग ने उसके दर्शन की नैतिक अच्छाईयों का प्रतिषेध कर दिया था, इससे संसदात्मक लोकतंत्र की साख का गिरना अवश्यम्भावी था। यदि ऐसी बात नहीं होती तो फासिस्टवाद के तूफानी उद्भव को मनोमय तौर पर नहीं समझाया जा सकता।

फासिस्टवाद संसदात्मक लोकतंत्र के संकट से उभरा था। संसदात्मक लोकतंत्र की सीमाओं में यूरोप के अंतर्द्वन्द की, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को नहीं सुलझाया जा सका। फासिस्टवाद की तुलना में जिन्दा रहने के लिए (लोकतंत्र के लिए) आवश्यक है कि वह संसदात्मकता की उस औपचारिकता से ऊपर उठे और जिस असम्पृक्त निर्वाचित-वर्गों को वह अपना आधार बनाती है जो असम्पृक्त होने के कारण निराश्रित रह जाता है। एक संगठित लोकतंत्र ही राज्य पर अपना स्थाई नियंत्रण बनाये रख सकता है, वही नये समाज की आधार शिला होनी चाहिए। इस दिशा में अपने को नव मूल्यांकित कर लेने के कारण, जीवन के प्रति लोकतान्त्रिक दृष्टिकोण आधुनिक प्रगतिशील मानवता के सम्मुख एक नई राजनैतिक और आर्थिक पुनर्निमाण की दिशा खोल देगी। इससे खून खराबे का अनन्त युग भी नहीं बना रहेगा और न ही शान्तिपूर्ण विकास की दिशाओं के प्रति शंका पैदा हो सकेगी।

सभ्यता के उद्भव के साथ जिन सांस्कृतिक मूल्यों की जो परत तैयार हो वह असम्पृक्त नहीं हो गई है। भूत की कीमती धरोहर भविष्य को ठोस ईमारत की आधार शिला देगी। इस उज्ज्वल भविष्य की कल्पना क्रान्तिवादियों, रोमांचवादियों, उटोपियावादियों और आदर्शवादियों ने एक-सी की है। यदि समाजवाद या साम्यवाद के कीटाणु पूंजीवाद की कोख में पनपे हैं तो भविष्य के लिए सच्चे उदारवादी दर्शन को भी तथाकथित अभिजातवर्गीय संस्कृति के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों में खोजा जा सकेगा।

कम्युनिस्ट सिद्धान्त और प्रयोग का पतन

सर्वहारा क्रान्ति का युग सर्वहारा दल द्वारा एक देश में राज्य की सत्ता पर अधिकार प्राप्त करने से ही समाप्त हो गया था। सर्वहारा क्रान्ति, पूर्णरूपेण, विशेषकर उसका निर्माणात्मक भाग मार्क्सवादी तरीके का नहीं था। आरम्भिक अवस्थाओं में उसका वैसा स्वरूप नहीं था। यदि सर्वहारा क्रान्ति को मार्क्सवादी निदान के रूप में विकसित होना था तो उसे इंगलैंड जैसे औद्योगिक देश में घटित होना था न कि आधुनिक जगत के पिछड़े-प्रदेश में। रूसी क्रान्ति एक संयोगिक घटना थी—परिस्थितियों के आकस्मिक गठजोड़े के कारण। इस तरह वह स्वयं ऐतिहासिक नियतिवाद के यान्त्रिक दृष्टिकोण का प्रतिषेध थी। ऐतिहासिक विकास के पूर्वाग्रहित योजना के अनुसार उसका न घटित होना ही जगत-क्रान्ति के लिए आह्वान का कारण नहीं बन सका। इसके विपरीत 1921 के बाद भी क्रान्ति को दूसरे देशों में फैलना नहीं हुआ।

रूस में भी क्रान्ति को नई मंजिल पार करना पड़ा था। आर्थिक निर्माण की बात जब सामने आई, तब लेनिन ने शीघ्र ही समझ लिया कि मार्क्स ने उसके बारे में कुछ नहीं लिखा है। सभी मार्क्सवादी आर्थिक सिद्धान्त आलोचनात्मक हैं। मार्क्स का पूरा ध्यान पूंजीवाद के अस्थिपंजर और केवल उसके अन्तर्विरोधों को प्रकट करने पर ही केन्द्रित रहा है—उसके बाद मार्क्स ने केवल यह जतलाने का प्रयास किया कि पूंजीवाद अपने ही अन्तर्विरोधों के कारण ढह जायगा। समाजवाद उसकी अंत्येष्टि से प्रकट होगा। इतिहास के प्रति दिव्य दृष्टिकोण के कारण उसका ध्यान समाजवादी पुर्ननिमाण के आयोजन की ओर नहीं गया। इसका निर्धारण उत्पादन शक्तियों के विकास पर निर्भर था। क्रान्ति को उन्हें पूंजीवाद के घेरे से बचाना था। उसके बाद भविष्य अपने आप उसे निर्मित कर लेगा। अर्थ-शास्त्री होने के नाते मार्क्स एक आलोचक था। उसकी भारी भरकम पोथियों में किसी भी प्रकार के सामाजिक-गठन की बात नहीं है। किसी भी प्रकार के भविष्य का आयोजन एक उटोपिया मात्र रहता है, ऐसे प्रयास की मार्क्स ने कटु आलोचना की है। अपनी नई आर्थिक नीति की चर्चा करते हुए लेनिन कहता है कि मार्क्स के समूचे लेखन में समाजवाद की आर्थिकता पर एक शब्द भी नहीं है।

मार्क्स ने क्रान्ति के बाद के राजनैतिक प्रयोग पर कुछ नहीं लिखा है। उसने सर्वहारा तानाशाही की बात अपदस्त हुए अभिजात-वर्ग के प्रतिरोध को तोड़ने के रूप में की है। उसके बाद क्या होगा, क्रान्ति के बाद का समाज अपने आपको राजनैतिक तौर पर कैसे संगठित और प्रशासित करेगा—इस विषय को इतिहास के नियामक और अगणनीय तत्वों के कार्यकारी स्वरूप पर छोड़ दिया गया था। मार्क्स ने उस राजनैतिक पहलू को राज्य के विलीनीकरण की बात करके टाल दिया। जहाँ तक नए-समाज के आर्थिक समस्याओं के अन्तर-सम्बन्धों का प्रश्न है उसने अराजकतावादी आदर्श सिद्धान्त—हरएक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरएक को उसकी आवश्यकता के अनुसार—का सहारा लिया। लेनिन ने इसे अर्थहीन नारा माना है। अपने मास्टर के कथन के आधार पर उस नारे को स्तालिन के विधान में निम्नलिखित स्वरूप दिया। "हरएक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरएक को उसके काम के अनुसार"। मार्क्स द्वारा दिया गया परम्परानुगत नारा यदि व्यर्थ बात थी तो उसका संशोधन जो केवल पुनरावृत्ति ही था—अर्थहीन बात नहीं थी क्या? वास्तव में उसका अर्थ नई सामाजिक व्यवस्था में धन की विषमता और उसके वितरण की असमानता को तर्क-संगत बताना था। उसके मूल्यांकन का कोई सही तरीका नहीं है। उसका निर्णय सत्तारूढ़ व्यक्तियों पर ही छोड़ दिया गया। उसके परिणाम क्या रहे हैं, उसका अब पता चल रहा है।

रूस में युद्धोत्तर राजनैतिक प्रयोग और आर्थिक पुर्ननिमाण मूलतः प्रयोजनात्मक रहा है। उनका कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं रहा है न उसने मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक पद्धति को कहीं भी छुआ है। इसलिए उन्हें समाजवाद या साम्यवादी कहना स्वेच्छा की बात है। दूसरी ओर, चूंकि भविष्यद्रष्टा ने यह नहीं बताया कि नई सामाजिक व्यवस्था का निर्माण कैसे किया जा सकता है और न ही उसके चित्र की रूप-रेखा अंकित की गई थी, अतः समाजवाद की संज्ञा किसी प्रकार की व्यवस्था को दी जा सकती है और कोई भी व्यक्ति यह सिद्ध नहीं कर सकेगा कि सोवियत रूस की आर्थिक व्यवस्था साम्यवादी नहीं है। नई सामाजिक व्यवस्था प्रयोजनात्मक वास्तविकता को उस काल्पनिक और प्रस्तावित चित्र में नहीं जोड़ा जा सकता जिसने रोमांचकारी व्यक्तियों को आशावादी-युग में प्रेरित किया था। उस आदर्श की तार्किकता को सैद्धान्तिक तौर पर विस्थापित करना था जो भविष्य की बात थी। नई समाजवादी सामाजिक व्यवस्था के आदर्श और वास्तविकता में जो त्रुटि विद्यमान थी, उससे उसके प्रति प्रेरणा का अंश कम नहीं हो जाता। इस हताश अनुभव ने विचारकों के दिल में संशय उत्पन्न कर दिया है, विशेषकर उन लोगों के मस्तिष्क में जिनके लिए समय में तथ्यों की हेरा-फेरी प्रगति नहीं हैं और जो तथ्यों को निर्णय लेने में पथ-प्रदर्शक मानते हैं।

मार्क्सवाद की उदारवादी वंश-परम्परा

पूंजीवाद की मार्क्सवादी व्याख्या इतिहास के अनुशीलन की कसौटी पर खरी उतरी है; लेकिन उसका यह सिद्धान्त—कि उसका स्थान समाजवाद ही लेगा, एक मनचाही कल्पना ही ठहरी है। इतिहास की आर्थिक व्याख्या ने मार्क्सवाद को संकट में ला दिया है। इतिहास का ऐसा दर्शन जो जीवन के अन्य पहलुओं की अवहेलना कर केवल उत्पादन-शक्तियों की बात करता है—विशेषकर विचारों की गत्यात्मकता की अवहेलना करता है, नैतिक समस्याओं का अनादर करता है—सामाजिक कार्यों के लिए किसी भी तरह निर्माणकारी नहीं हो सकता। मार्क्सवादी इतिहासकारिता का परीक्षण किया गया है, लेकिन वे खरी नहीं उतरी है। आज एक नये और व्यापक इतिहास-दर्शन की आवश्यकता है, जो मानव जाति को आज के संकट से उभार सके। दूसरी ओर भौतिक सामाजिक अस्तित्व की वास्तविक आर्थिक आवश्यकताओं की अवहेलना कर राजनैतिक सिद्धान्त और नैतिक मत का स्वरूप निर्धारित करना मूलतः भ्रामक और रूढ़ रहेगा।

समाजवादी और साम्यवादी आन्दोलन में मौलिक तौर पर नैतिक उत्साह की कमी नहीं थी। वास्तव में इन आन्दोलनों के आदि प्रवर्तकों ने पूंजीवादी-व्यवस्था की उसकी अनाचारिता के कारण भर्त्सना की थी। उनकी नये-समाज की मांग एक नैतिक मांग थी। उस सामाजिक न्याय की हेतुभाषिता अपने आप में स्पष्ट है। मार्क्स ने अपने पहले के विचारकों का उनकी खिल्ली उड़ाते हुए उटोपियावादी कहा है और समाजवाद को वैज्ञानिक रूप देने का दावा किया है। लेकिन इतिहास की आर्थिक व्याख्या ने इतिहास की व्याख्या को हेत्वभाष में परिणत कर दिया। समाजवादी समाज की संरचना व्यक्तियों द्वारा नहीं की जानी थीं, वह तो स्वतः और अवश्यम्भावी रूप से उत्पादन-शक्तियों के फल-स्वरूप अस्तित्व में आनी थी। ऐतिहासिक विकास की वह एक अवस्था थी। मार्क्सवादी समाजवाद ने अपनी वैज्ञानिकता (की प्रामाणिकता) इस बात पर उद्घोषित की कि इतिहास के नियमों के कारण यह आसानी से कहा जा सकता है कि पूंजीवादी समाज नई समाज-व्यवस्था को जन्म

देगा। मार्क्स ने उन नियमों का पता लगाने की घोषणा की। लेकिन सामाजिक विज्ञान के लापलास के बाद न्यूटन नहीं आया। स्वयं मार्क्स एक अनुचित देवता निकला।

मार्क्स इतिहास का एक शुष्क हृदय वाला गणितज्ञ नहीं था जैसा कि उसके अनुयायियों ने उसे प्रसारित किया है। वह एक अनुरागपूर्ण मानववादी था और क्रान्ति में प्रगाढ़ विश्वास रखते हुए वह एक रोमाँचकारी भी था। क्रान्ति की कल्पना एक रोमांचकारी कल्पना है क्योंकि वह उस जगत के निर्माण की सम्भावना का प्रागानुमान करती है, जिसमें की वह (व्यक्ति) निवास कर रहा होता है। यदि मानव प्रयास के प्रयोजन को ध्यान में नहीं रखा जाता तो सामाजिक विकास एक यांत्रिक-प्रवाह बन कर रह जायगा। उससे बड़े आकस्मिक परिवर्तन की सम्भावना नहीं रहती और न ही विकास को द्रुतगति देने का आश्वासन ही बना रहेगा, क्रान्ति के सृष्टा होने के नाते मार्क्स एक रोमाँचकारी व्यक्ति था। उसने मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति में अपना विश्वास प्रकट किया था, जिससे समाज में क्रान्तियों का होना सम्भव हो सके। मार्क्स के मानववादी होने के कारण उसके क्रान्ति के सिद्धान्त में नैतिक बल था। मार्क्स के आलोचक तक, जो वास्तविकता से अपना नाता नहीं तोड़ते, वे मार्क्स के सही और बौद्धिक सच्चाई के प्रति अनुराग ही रखते हैं। बिना नैतिक तीव्र उत्साह के, बिना अन्याय के प्रति अरुचि के मार्क्स शोषित और दबे हुए के प्रति कभी भी उनकी दशा सुधारने का एकान्तिक प्रयास नहीं करता।

बनावट और पाखण्ड के विरुद्ध एक अति उत्तेजित सेनानी होने के नाते, मार्क्स समाज के अन्य नैतिक व्यक्तियों की तरह एक अत्यंत नैतिक व्यक्ति था। मार्क्स द्वारा पूंजीवाद के सारतत्व की अक्षम्य आलोचना एक नैतिक प्रतारणा थी। अंतिम विश्लेषण में—'पूंजी' सामाजिक नैतिकता पर एक निबन्ध है—श्रमिक जनता की गुलामी के विरुद्ध एक विशाल प्रतिरोध के रूप में। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मार्क्स ने अपने आर्थिक सिद्धान्तों के लिए स्पष्ट नैतिक प्रचार जान-बूझ कर नहीं किया था। वह विषमता पर आश्रित व्यवस्था के पाखंडियों से घृणा करता था। एक नैतिक व्यक्ति होने के कारण ही उसके समकालीन इतिहास को प्रभावित किया था। केवल उसके रूढ़ अनुयायी मार्क्स के इस स्वरूप से अनचीते रहे हैं।

यद्यपि मार्क्सवाद एक तानाशाही सिद्धान्त बन कर रह गया है; मार्क्स स्वतंत्रता का पुजारी था। एक मानववादी होने के नाते वह व्यक्ति की स्वतंत्रता का हामी था। उसने समाजवाद की बात "स्वतंत्रता के राज्य" के रूप में की थी, जहाँ व्यक्ति सामाजिक वातारण का अधिष्ठाता होगा। जो ऐसे मानववादी सिद्धान्त का उपदेश दे, वह कभी भी सामूहिक अहं की बेदी का पुजारी नहीं हो सकता चाहे वह

सामूहिक अहँ सर्वहारा वर्ग का ही क्यों न हो। मार्क्स के अनुसार समाजवाद के अन्तर्गत मानवीय विवेक उन अमनोमयी शक्तियों पर पार पा सकेगा जो अब तक मनुष्य के जीवन को आतंकित करती रही है। एक मनोमय व्यक्ति होने के नाते मनुष्य ही अपने मंतव्य का नियंता होगा। आर्थिक नियतिवाद के हेतु मात्र से छुटकारा पा लेने के बाद—मार्क्सवाद, मानववादी, स्वतन्त्रचेता और नैतिक प्रभाव अपने नये युग के नये विश्वास को संजोयेगा। वह एकत्रित मानव धरोहर का एक भाग होगी जो भविष्य निर्माताओं द्वारा उद्घोषित की जायगी।

मार्क्सवाद के वास्तविक मूल्य को उदार-परम्पराओं के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। बर्नस्टीन ने जब यह कहा कि मार्क्सवाद उदारवाद का ही परिणाम है तो वह एक संशोधनवादी नहीं था, उसने तो केवल मार्क्सवाद के धरोहर की ओर ही संकेत किया था। बर्नस्टीन का यह कथन कि समाजवाद व्यवहार में उदारवाद का ही संगठित रूप है, आज भी प्रशंसनीय है। उदारवाद ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उद्घोष किया था, लेकिन उदारवादी प्रयोग ने उसे औपचारिकता का रूप देकर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को निष्फल कर दिया था; समाजवाद ने भी उसी तरह मानववादी सिद्धान्तों को व्यवहारिक रूप देने का आश्वासन दिया था।

मार्क्स की उदारवादी वंश-परम्परा उसके आर्थिक सिद्धान्तों में प्रकट होती है। 'आर्थिक-व्यक्ति' एक उदारवादी धारणा है और वहीं से इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या से उसका भेद प्रकट होता है। मार्क्सवादी अर्थ-शास्त्र का आधार 'श्रम-सिद्धान्त' है। यह सिद्धान्त उसने रिकार्डो से लिया था। अतिरिक्त-मूल्य का सिद्धान्त श्रम-सिद्धान्त के मूल्य का ही तार्किक निगमन है। अतिरिक्त मूल्य का विचार आरम्भिक आंग्ल समाजवादियों —ग्रे, होजस्किन, थोमसन और अन्य के विचारों में विद्यमान था। देखा जाय तो इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मार्क्स ने शास्त्रीय आंग्ल राजनैतिक अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्तों से ही प्रेरणा ली थी, जिसकी उसने कटु-आलोचना भी की थी। वह आलोचना मार्क्स की सच्ची आलोचना थी। उसका उद्देश्य छिद्रान्वेषित विचारों को हेत्वभाष की परिधि से छुटकारा दिलाना था ताकि उससे प्राप्त अर्थ के आधार पर एक विकसित सैद्धान्तिक धरातल को तैयार किया जा सके। आदम स्मिथ ने मत व्यक्त किया था कि, "मौटे तौर पर मनुष्य की समझ उनकी साधारण नियुक्ति से ही निर्धारित रहती है।" अभिजात वर्गीय राजनैतिक अर्थ-शास्त्र के पिता ने मार्क्सवादी सिद्धान्तों की पूर्व कल्पना की थी कि मनुष्य के विचार जीवन-यापन के साधनों से ही निर्धारित होते हैं।

मार्क्स का नैतिक प्रश्नों के बारे में जो रुख था वह भी अभिजातवर्गीय उपयोगितावाद से प्रभावित था। बेनथम ने कहा था कि संवेदनशील और संयमी नैतिकता शालीनता की उपज है और इसलिए वे दूसरी तरह के सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण के अनुकूल नहीं ठहरते। लेकिन उग्र-दार्शनिकों ने इस नैतिक समस्या के प्रति व्यक्तिगत दृष्टिकोण ही अपनाया था। उन्होंने नैतिकता का खंडन इस स्थापना के साथ किया था कि व्यक्ति को समाज के स्वार्थों के सामने अपने स्वार्थों का परित्याग कर देना चाहिए। अनुशासन और विनय के गुणों का परित्याग करते हुए उनका मानना था कि साधारण स्मृद्धि और खुशहाली व्यक्तिगत अधिकारों और स्वार्थों के आधार पर ही स्थापित की जा सकती है। नैतिक व्यवस्था स्वार्थों के संतुलन का ही परिणाम है। अपने ही मानववादी विश्वास के विरोध में मार्क्स ने स्वतंत्रचेता व्यक्तिवादी सिद्धान्त को अभिजातवर्गीय भाववाचकता कह कर ठुकरा दिया था।

मार्क्स पर हेगल के प्रभाव ने उसे नैतिक मूल्यों क प्रति व्यक्तिगत रुख नहीं अपनाने को मजबूर कर दिया था जबकि उपयोगितावाद का नैतिक सापेक्षतावाद मनोमयी था। मार्क्सवादी सापेक्षतावाद, उसके ऊपरी स्वरूप के बावजूद रूढ़ था। क्योंकि मार्क्सवादी सापेक्षतावाद हेगल के ही नैतिक सकारात्मकवाद का दूसरा रूप था। हेगल ने शक्ति के सत्य को दर्शाने के प्रयास में, अनैतिकता को मनोमयी स्वरूप दे दिया। हेगल की सकारात्मक नैतिक मान्यता—कि जगत में कोई नैतिक मान्यता नहीं है—सिवाय इसके कि जो कुछ वास्तविक है वही मनोमय है और इसलिए सुन्दर है, यही तो नैतिक शून्यवाद है। हेगल के नैतिक सकारात्मकतावादी सिद्धान्त और मार्क्सवादी सापेक्षतावादी सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है। एक के अनुसार आधुनिक शक्ति ही सत्य है जो हेगल के सिद्धान्त का ही भविष्य-रूप है; दूसरे के अनुसार आने वाली शक्ति भी सत्य है। हेगल ने कहा, "जो कुछ मनोमय है वह मनोमयी होने के कारण सुन्दर है। मार्क्स ने इसमें जोड़ा," भविष्य जैसा कि मैं (उसकी) कल्पना करता हूं, वर्तमान से ही उसका उद्भव होगा; अतः वह भी मनोमय और सुन्दर होगा। दूसरे शब्दों में, यदि आज की सत्ता सत्य है तो भविष्य में उसकी सत्यता बनी रहेगी। मार्क्स का भविष्य आज सत्ता में आया साम्यवाद ही है और नैतिकता के प्रति मार्क्स का रुख सकारात्मक हो गया है।

नैतिक समस्याओं के संदर्भ में मार्क्सवाद का हेगलीय सार कम्युनिस्टों द्वारा एक देश में सत्ता के हस्तान्तरण के अनुभव से प्रकट हो चुका है। वहां, जो कुछ तर्क-संगत है, सुन्दर है; जो कुछ नई सामाजिक व्यवस्था के लिए किया जाता है

नैतिक है, सत्य है। हेगल का वास्तविकतावादी दृष्टिकोण रूस तक ही समाहित नहीं हैं जहां कम्युनिस्टों ने सत्ता हथिया ली है। यह मत संसार के सभी कम्युनिस्टों द्वारा मान्य हो गया है। इसका परिणाम कम्युनिस्ट आन्दोलन के नैतिक पतन के रूप में ही हुआ है। यही कारण है कि कार्य-ग्रस्त विघटित और स्थापित स्वार्थों के प्रति विद्रोह करने वालों के प्रति साम्यवादी प्रेरणा प्रभावी नहीं रही है। साथ ही ऐसे विद्रोहियों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है जो सब वर्गों से आ रहे हैं— विशेष कर गैर-सर्वहारा वर्ग के मध्मय स्तर से। सामाजिक शक्तियों का ध्रुवीकरण मार्क्स के कहे अनुसार नहीं हुआ है। इसलिए क्रान्ति का ढाँचा मार्क्स द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सका था।

हेगल के प्रभाव से दूर नहीं होने के कारण—द्वंद्वात्मकता के प्रति आकर्षण बने रहने के कारण, मार्क्स ने अपना नाता मूल-वास्तविकता से तोड़ दिया था और वही क्रान्ति-दर्शन के लिए प्रेरणा का स्रोत है। मार्क्सवाद के उस सार को उसके रूढ़ अनुयायियों ने भुला दिया। उन्होंने अपने विश्वास को राजनैतिक ईसाईयों का सा रूप दे दिया है।

क्रांति का मार्क्सवादी सिद्धान्त

यह सिद्धान्त कि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन ही पूंजीवाद की विशिष्ट बात है और वही श्रमिक वर्गों के शोषण का आधार है, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र का ही मौलिक हेत्वभाष नहीं है वरन् क्रांति के समग्र-दर्शन का भी हेत्वभाष है। उत्पादक को उसके पूरे श्रम की उजरत का नहीं मिलना पूंजीवाद व्यवस्था की विशेषता नहीं है। सामाजिक प्रगति विशेषकर उत्पादन के साधनों का विकास—इतिहास के आदि काल से इस बात से निर्धारित रहे हैं कि किसी भी समय समाज के पूरे श्रम के समूचे उत्पादन का पूरा उपयोग नहीं हुआ है। जिस श्रम का उपयोग नहीं हुआ है उसे ही अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है और वही युग-युग में प्रगति का आधार रहा है। मार्क्सवाद की अर्थशास्त्रीय भाषा में जिसे अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है, पूंजीवादी व्यवस्था में वही सामाजिक अतिरिक्त उपज है।

आर्थिक इतिहास का चतुर विद्यार्थी होने के नाते मार्क्स अतिरिक्त उत्पादन की प्रगतिशील आवश्यकता के प्रति शंका प्रकट नहीं कर सका। आर्थिक तौर पर, अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन के उन्मूलन की बात करना अव्यवहारिक बात होती, वास्तव में आत्मघाती होती। सामाजिक अतिरिक्त उत्पादन समाप्त हो जायगा यदि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन रोक दिया जाता है, तब प्रगति का आधार लोप हो जाने के कारण समाज स्थिर हो जायगा और उसकी कमर टूट जायगी। अतिरिक्त मूल्य की कमी या अपर्याप्तता के कारण प्राचीन सभ्यताएँ इतिहास में लोप हो गई।

अपने आर्थिक सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में मार्क्स ने स्थापित किया कि पूंजीवादी उत्पादन का प्रयोजन "मूलतः अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन करना है" परन्तु उस संदर्भ में उसने उसके उन्मूलन की कभी बात नहीं की थी जबकि उसे वैसी बात करनी थी–श्रम के "शोषण" के अन्त के रूप में। आर्थिक सिद्धान्त के संदर्भ में जिस प्रस्ताव को प्रस्तावित नहीं किया जा सकता था, उससे जब परोक्ष में राजनैतिक सिद्धान्त निकाले गये तब इस शोषण के सिद्धान्त को विस्थापित किया गया। इस तथ्य से आँख मूँदते हुए कि अतिरिक्त-मूल्य का उत्पादन श्रम के "शोषण" का

प्रतिनिधित्व करता है विशेषकर उत्पादक को उसके श्रम का पूरा मूल्य नहीं मिलने के अर्थ में, और इसी बात की अवहेलना करते हुए कि यदि किसी आर्थिक व्यवस्था को मंद नहीं पड़ जाना है तब अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन आवश्यक रूप से होना चाहिए। मार्क्स ने कहा कि पूंजीवादी के अन्तर्गत अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन श्रम के शोषण का इसलिए प्रतिनिधित्व करता है कि वह एक विशिष्ट वर्ग द्वारा हथिया लिया जाता है। उस अनुचित दृष्टिकोण के फलस्वरूप मार्क्स ने मांग की कि सामाजिक अतिरिक्त मूल्य का उस वर्ग द्वारा हथियाना बंद हो जाना चाहिए। उसने कहा—हड़पकों का हड़पन ही मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण के अन्त की आवश्यक स्थिति है।

एक विशिष्ट वर्ग द्वारा सामाजिक अतिरिक्त मूल्य का हड़पन वास्तव में अवांछनीय व्यवस्था है, उसे समाप्त होना चाहिये। इस मांग के पीछे आर्थिक स्वीकृति न होकर नैतिक स्वीकृति है। यह तो सामाजिक न्याय की मांग है, जो क्रांति के मार्क्सवादी तरीके से मेल नहीं खाती। मार्क्सवादी अर्थशास्त्र और मार्क्सवादी क्रांति में जो अन्तर्निहित हेत्वभाष है, उसकी कमियां प्रयोजनात्मक तौर पर सिद्ध हो चुकी हैं। मार्क्सवाद द्वारा भी यह सामान्य तौर पर मान लिया गया है कि समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में भी अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन किया जायेगा और वहाँ यह मांग स्पष्ट तौर पर की जाती रही है कि समाजवाद की स्थापना के लिये हड़पक का हड़पन सर्वहारा वर्ग द्वारा कर लिया जाना चाहिये। उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि नई व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक अतिरिक्त मूल्य नये शासक वर्ग—सर्वहारा वर्ग—द्वारा हड़पित की जायेगी। ऐसा तब तक होता रहेगा जब तक कि वर्गहीन और राज्यहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती।

अनुभव हमें इस बात के लिए मजबूर कर देना चाहिये कि यह क्रांति का दार्शनिक सिद्धान्त त्रुटि-पूर्ण है। रूस की समाजवादी आर्थिक व्यवस्था में अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन होता है। अन्यथा जिस तीव्र औद्योगिक विकास का विज्ञापन और प्रशंसा की जाती है उसे समझाया नहीं जा सकता। पूंजी का एकत्रीकरण आवश्यक स्थिति है; और उसका होना केवल तब सम्भव है जबकि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन हो। दूसरे शब्दों में उत्पादकों द्वारा जो कुछ उपभोग किया जाता है उसके अतिरिक्त उत्पादन की बचत हो, तभी वह अतिरिक्त मूल्य कहलायेगा। औद्योगीकरण का तीव्र विकास केवल तब सम्भव है जब बचत अधिक संख्या में हो, जिसका अर्थ अधिक अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन होना है। यदि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन श्रम का शोषण है तब समाजवाद के अन्तर्गत भी श्रम का शोषण होता है; और इसे मान लेना चाहिये कि रूस की समाजवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत श्रम का और भी

अधिक शोषण और अधिक अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन नई पूंजी के रूप में एकत्रित करने के लिए किया जाता है।

अन्यथा ट्राटस्की की इस स्थापना का साथ दे दिया जाना चाहिए कि क्रान्ति के साथ गद्दारी की जा चुकी है और इस निर्णयपन्न पहुंचा जा सकता है कि समाजवादी राज्य पूंजीवादी राज्य से अच्छा नहीं है। सही बात तो यह है कि क्रान्ति के साथ गद्दारी नहीं की गई है। वह तो मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक पक्ष के अनुरूप ही ढला है। उसके निर्माण का प्रयोजनात्मक व्यवहार अपनी समझ के आधार पर लेनिन द्वारा मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक पक्ष से ही कूता गया था। नहीं, क्रान्ति के साथ गद्दारी नहीं की गयी है। वह तो लेनिन और स्तालिन के रूढ़ नव्य-मार्क्सवाद के अन्धविश्वास के अनुकूल ही खिला है। मार्क्सवादी क्रान्ति के दर्शन का हेत्व-भाष और उसकी अपर्याप्तता अनुभव से स्पष्ट हो गई है। इससे क्रान्ति के नये दर्शन की भूमिका तैयार हो गई है।

अतिरिक्त मूल्य के अनुचित सिद्धान्त ने विशेषकर हड़पन के अनुभवों ने वर्ग-संघर्ष के अंध-मत को सैद्धान्तिक धरातल दिया है। हकीकत में मार्क्स और उसके अनुयायियों ने (सभ्यता के आदि काल को छोड़ते हुए) आर्थिक नियतिवाद में विश्वास करते हुए समूचे इतिहास में वर्ग-संघर्ष को ढूंढ़ निकाला है। इसलिए मार्क्स का यह मानना था कि सभ्यता का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। समाज निस्संदेह हमेशा दो वर्गों में विभाजित रहा है और उन वर्गों के झगड़ालू स्वार्थ रहे हैं। लेकिन साथ ही समाज में एकत्व की स्थिति भी रही है, जिसने समाज को बनाये रखा है। अन्यथा वह बिखर गया होता और वहाँ बारम्बार सामाजिक क्रांति नहीं घटती। समकालीन पूंजीवादी समाज का मार्क्सवादी भविष्यवाणी के अनुसार दो वर्गों के बीच नहीं बटने के कारण वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त के प्रति शंका उत्पन्न होती है। जहां तक विगत का प्रश्न है, थोड़ी चतुराई को लेकर तथ्यों को किसी भी सैद्धान्तिक ढाँचे के अनुकूल बनाकर ढाला जा सकता है।

मार्क्सवाद सचमुच ही पूंजीवादी समाज में मध्यम वर्ग की भूमिका के बारे में त्रुटि कर बैठा है। यह भविष्यवाणी कि मध्यम वर्ग इतिहास के दौरान लोप हो जायेगा, इतिहास के अनुशीलन की कसौटी पर खरी नहीं उतरी है। इसके विपरीत मध्यम वर्ग को बौद्धिक और राजनैतिक महत्व का पता प्रथम विश्व युद्ध के संकट के दिनों में चला है। उत्पादन के साधनों का चंद हाथों में एकत्रित हो पाने से मध्यम वर्ग संख्या में बढ़ा है। लेकिन वे सब जो पूंजीवादी शोषण के लाभ से वंचित रहे हैं, सर्वहारा नहीं बन गये हैं। आर्थिक तौर पर उन्हें ऐसा चित्रित किया जा सकता है,

लेकिन दूसरे महत्वपूर्ण मामलों में—शिक्षा और संस्कृति के मामलों में उनका स्वतंत्र सामाजिक अस्तित्व बना रहता है और वे घटनाओं को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। सत्य बात यह है कि पूंजी और श्रम के बीच मध्यम वर्ग की संख्या बढ़ती जाती है और वे यथा-स्थिति के परम शत्रु बने रहते हैं।

समाजवाद वास्तव में एक मध्यम-वर्गीय विचारधारा है। दोनों विरोधी खेमों से तटस्थ हो जाने के कारण (पूंजी और श्रम के खेमों से), और बौद्धिक गुणों से सम्पन्न होने के कारण (केवल) मध्यम वर्ग ही बुद्धिजीवी पैदा कर सकता है जो तत्काल आर्थिक स्वार्थों के आगे देख सकता है और सामाजिक न्याय और शान्ति को बनाये रख सकता है। पूंजीवाद के ह्रास ने मध्यम वर्ग का आर्थिक तौर से सत्या-नाश कर दिया है। इसका परिणाम उनके मन में यथा-स्थिति को तोड़ने की तीव्र भावना जाग्रत हुई है। समाज में उनका कोई अस्तित्व नहीं रह गया है और वह नई सामाजिक व्यवस्था की मांग करने में लग गया है। आर्थिक भेद के कारण, मध्यम वर्ग समाजवाद की स्थापना में सर्वहारा वर्ग का साथ देने को तैयार हो गया। मध्यम वर्ग के लिए समाजवाद राज्य-पूंजीवादी नहीं था बल्कि समतावादी समाज था। वह वर्ग सांस्कृतिक तौर पर सर्वहारा नहीं बन गया था। वे सांस्कृतिक और भौतिक मूल्यों को मानव सभ्यता की सही धरोहर समझने के योग्य थे और आर्थिक नियति के देवता की वेदी पर उस अमूल्य निधि की बलि देने को तैयार नहीं थे। इसका परिणाम क्रांतियों की शक्तियों का टुकड़ों में बँट जाना है। मार्क्सवादी अंध-मत ने आर्थिकता को सर्वोच्च महत्व दिया था। इसके साथ-साथ नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति सनकी रुख अपना लेने के कारण मध्यम वर्ग से उनकी विसंगति हो गई और उसमें क्रांति की ताकतों को बौद्धिक तौर पर कमजोर बना दिया। स्वार्थी आर्थिकता ने समाजवाद की नैतिक धारणा को ग्रसित कर लिया।

मध्यम वर्ग की अवहेलना करने की त्रुटि को लेनिन ने समझ लिया था और उसने उसे सुधारने का प्रयास किया, लेकिन केवल संगठन के स्तर पर। सिद्धान्त के तौर पर सर्वहारा वर्ग अभी भी मार्क्सवादी जगत के चहेते लोग बने रहे। लेनिन ने स्वीकार किया कि सर्वहारा अपने आप में समाजवादी-लोकतांत्रिक चेतना का विश्वास नहीं कर सकते। यह चेतना उनके लिए बाहर से लानी होगी—मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवियों द्वारा। इस महत्वपूर्ण दृष्टिकोण पर जोर देते हुए लेनिन ने आगे कहा था कि श्रमिक वर्ग स्वत: ही समाजवादी नहीं हो पाता, वह ट्रेड यूनियनवादी ही रहता है। इस मध्यम वर्ग ने ही मार्क्सवादी आर्थिकवाद और सर्वहारा की नई सामाजिक व्यवस्था के बीच के विरोधों को प्रकट किया है।

लेनिन ने अपने सिद्धान्त को साधारण रूप देते हुए कहा : केवल रूस में ही नहीं वरन् सभी देशों में श्रमिक वर्ग स्वतन्त्र रूप से अपनी विचारधारा बनाने में समर्थ नहीं होते, उन्होंने या तो अभिजात वर्ग का अनुकरण किया है या मध्यम वर्ग के समाजवादी बुद्धिजीवियों का। यह इस बात की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है कि समाज-वाद का उद्देश्य और सर्वहारा वर्ग की क्रांति श्रमिक वर्ग के अनुभवों का परिणाम नहीं है। समाजवाद के उद्देश्य की कल्पना मध्यम-वर्ग के बुद्धिजीवियों द्वारा की गई थी। मार्क्सवाद के अनुसार मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवियों के विचार और संवेदन उस वर्ग के अपने अनुभवों से आवश्यक तौर पर निर्धारित होंगे। सर्वहारा वर्ग का समाज-वाद के निर्माताओं और आह्वान-कर्त्ताओं के रूप में गुणगान की आवश्यकता नहीं थी। इसका श्रेय मध्यम वर्ग को दिया जा सकता है, जिसकी समूची अवहेलना रूढ मार्क्सवादी क्रांतिकारी योजना में बदनामी के साथ की जाती रही है।

लेनिन ने संगठन के सम्बन्ध में इस त्रुटि को ठीक कर लिया था, लेकिन सैद्धा-न्तिक तौर पर वह रूढ मार्क्सवाद का कट्टर अनुयायी बना रहा। उसने सर्वहारा वर्ग की विचार धारिक कमियों को एक-दूसरे प्रयोजन के कारण बताया—अपनी पार्टी और उसके दायित्व के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के रूप में। चूंकि समाज-वाद की भावनाओं को सर्वहारा वर्ग में मध्यम-वर्ग द्वारा ही डालना था, इसलिए सर्वहारा वर्ग की पार्टी पेशेवर क्रांतिकारियों का दल ही होनी चाहिए थी, जो स्थिति के अनुसार मध्यम वर्ग से आ सकते थे। इतना होते हुए भी लेनिन ने मध्यम वर्ग के क्रांतिकारी महत्व को नहीं माना। इस अवास्तविक मूल्यांकन का परिणाम पार्टी को उस वर्ग पर थोप देना ही रहा जिसका वह प्रतिनिधित्व करती थी। लेकिन पार्टी किन्हीं भी अर्थों में वर्ग का एक भाग नहीं थी। वह सर्वहारा वर्ग की ऊपर से नियुक्त पार्टी थी, जो सामूहिक अहँ को अपने आंचल में बांधे थी। तत्पश्चात् फासिस्टवादियों ने "नेतृत्व-सिद्धान्त" को उभारा। लेकिन रूढ मार्क्सवादी लेनिन, उस सिद्धान्त का प्रतिपादक था जो साम्यवादी आन्दोलन का एक विश्वास के तौर पर अभिन्न अंग बन गया था।

आर्थिक नियतिवाद के अनुसार सर्वहारा, सांस्कृतिक और बौद्धिक तौर पर सबसे पिछड़ा हुआ वर्ग होता है। केवल समाजवाद की स्थापना के बाद उनकी आर्थिक परिस्थितियाँ सम्पन्न होती हैं, और सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास उनके लिए सम्भव होता है। अपने सैद्धान्तिक पक्ष के ऐसे स्पष्ट अनुमान का तिरस्कार करते हुए, मार्क्सवाद सर्वहारा वर्ग को ऊँच सभ्यता के नेतृत्व का सम्मान प्रदान करता है। यहां विरोध अपने-आप में स्पष्ट है। साम्यवादी व्यवहार सैद्धान्तिक अन्तर्विरोध के कारण दूषित हो गया है। इस संकटापन्न स्थिति से मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवियों द्वारा मुक्ति

पा ली गई है—सर्वहारा वर्ग के बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर को निम्न बना रहने देकर उन्होंने इसी तरह पार्टी के नेतृत्व की कीमत चुकाई है।

साम्यवादी आन्दोलन में किसी प्रकार की बौद्धिक स्वतंत्रता नहीं है। सर्वहारा वर्ग के संगठन के प्रति गर्व बना लेने के कारण उसके लिए पूँजीवादी संस्कृति और अभिजात वर्ग की नैतिकता का कोई उपयोग नहीं रह गया है। लेकिन अब तक कोई अन्य संस्कृति और नैतिकता नहीं है। सर्वहारा संस्कृति पारिभाषिक विरोधाभास है, और सर्वहारा नैतिकता का मूल सिद्धान्त—युद्ध और प्रेम में सब उचित है—वाला सिद्धान्त बन गया है। श्रमिक वर्ग एक गृह-युद्ध का सामना कर रहा है—युद्ध में सबसे खराब युद्ध भी युद्ध होता है। क्योंकि उसमें उद्देश्य माध्यमों का निर्धारण करने लगते हैं। साम्यवादी दल अङ्गिकृत तौर पर अनैतिक है और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति एक सनकी रुख अपना रही है। इसलिए समूचे समकालीन सभ्य-जगत के लिए वह प्रेरणास्पद नेतृत्व नहीं दे सकेगा। जो मानव सभ्यता का उद्धार करना चाहते हैं वे ही तो अधिक स्वतंत्र और ऊँच संस्कृति वाले समाज का अङ्ग हो सकती हैं। नैतिक संकट की प्रसव वेदना के कारण सभ्य जगत एक नये नेतृत्व की ओर आँखे फाड़ रहा है, जिसका रुख समस्याओं के हल के प्रति अधिक मनोमय (वाला) और व्यापक दर्शन वाला है।

सर्वहारा वर्ग अपने आप में क्रांतिकारी ताकत नहीं है। वह नई व्यवस्था के आदर्श की प्रेरणा का श्रोत हो सकता है। लेकिन उसका सांस्कृतिक और बौद्धिक पिछड़ापन उसको वर्ग के स्तर पर अवसर नहीं देता कि वह दूर-दृष्टि अपना सके। मार्क्सवाद ने मूलतः इस बात को अपनी गणना में लेकर इस सिद्धान्त को स्थापित किया है कि क्रांति की ऐतिहासिक आवश्यकता को सर्वहारा वर्ग के अगुआ चेतन-वर्ग ने ही समझा है, वही तो क्रांतिकारी दल है। संघर्ष-रत वर्ग-संघर्ष के अनवरत अंध-मत के कारण और समाज का आर्थिक स्वार्थों के रूप में दो वर्गों में बँटने की आशा ने, मार्क्स और लेनिन को—विशेषकर लेनिन को—सर्वहारा वर्ग के अगुआओं द्वारा सशस्त्र क्रान्ति की कल्पना करने को मजबूर किया जो बाद में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के रूप में स्थापित हो जायेगी। यह सिद्धान्त अपने उद्देश्य को ही समाप्त नहीं कर देता, जैसा कि रुस के अनुभव ने स्पष्ट कर दिया है। वह एक नई व्यवस्था का राजनैतिक नेतृत्व तैयार कर देता है जो सांस्कृतिक योजना-बद्धता और आर्थिक गुलामी को प्रसूत करता है। यही नहीं, संसार के सभी देशों में रूस में संयोगिक विजय के बाद साम्यवादियों का असफल रहना यह सिद्ध करता है कि सत्ता हथियाने की उनकी तकनीक भी अपर्याप्त है। मार्क्स के बाद वैज्ञानिक आविष्कारों ने राज्य की सत्ता और दबाव को इतना दृढ़ कर दिया है कि अल्प संख्यकों द्वारा सशस्त्र क्रांति की स्थापना ही नहीं

रह गई है। सशस्त्र क्रांति का सिद्धान्त पुराना पड़ गया है। इसके विपरीत उनकी वर्ग-विचारधारा और सर्वहारा तानाशाही की असफलता के कारण कम्युनिस्ट अपने आन्दोलन में सभी प्रगतिशील और क्रांतिकारी शक्तियों को सम्मिलित करने में असमर्थ रहे हैं। वे रूढ़ और सम्प्रदायवादी पार्टी के लोग रहे हैं। यहां तक कि सर्वहारा वर्ग के अधिक संस्कृत लोगों को भी साम्यवादी दल अपनी ओर आकर्षित करने में असफल रहा है। वे अन्य समाजवादी लोकतांत्रिक दलों से सम्बन्धित रहे हैं। इसका नतीजा यह हुआ है कि मार्क्सवाद की प्रेरणा समाज के केवल निम्न तबकों तक ही सीमित रही है। (अंत में) स्तालिन तो इस सीमा तक पहुँच गया कि समाज के अव्यवस्थित और बेकार लोग ही सामाजिक क्रांतिकारी के मूल हैं।

सर्वहारा वर्ग वांछित क्रांति को सम्पन्न नहीं कर सके और न ही समाज की रहस्यमयी शक्तियों ने अपने-आपको बाढ़ की तरह उभारा है, जैसा भी अनुमान लगाया गया था। लेकिन क्रांति की अर्थात् समाज के पुनर्गठन की आज भी महती आवश्यकता है जिसे सर्वहारा वर्ग की तुलना में समाज के अधिकांश लोग सम्पन्न देखना चाहते हैं। नये समाज की प्रेरणा, सभ्यता के मूल्यों के खतरे के प्रति प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भी हुई है। लेकिन क्रांति का एक नया दर्शन जो अपने युग के अनुकूल ही सभ्य समाज के लिए प्रकाश स्तम्भ की तरह अभी निर्मित होना है। नये दर्शन का कार्य आवश्यक रूप से यथा-स्थिति के अवशेषों और नैतिक स्वीकृति को नष्ट करना होगा और उन लोगों के लिए एक नई सामाजिक व्यवस्था के प्रति विचारों को तैयार करना होगा जो वर्तमान वस्तु-स्थिति से असंतुष्ट हैं। उसे (एक) नई क्रांति के तरीकों को प्रसूत करना होगा जो समय की मांग के अनुकूल हो। हालांकि सामाजिक निर्माण के कदम हर देश में उनकी परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग होंगे फिर भी उसे वर्गीय सम्प्रदाय से ऊपर उठना होगा और मानवीय भावना और व्यापक जगत-दृष्टि से प्रेरित होना पड़ेगा। उसे और लोगों को लोकतांत्रिक संस्था में शामिल होने की प्रेरणा भी देनी होगी ताकि क्रांति के बाद की व्यवस्था में वे आधार रूप से बने रहेंगे।

आज अभिजात वर्ग बनाम सर्वहारा वर्ग, पूँजी बनाम श्रम मूल मुद्दा नहीं है, वैसा कभी मुद्दा था ही नहीं। यह अभी भी तय किया जाने वाला मुद्दा है। आज के युग का संघर्ष लोकतंत्र और तानाशाही के बीच का है। सर्वग्रासी सामुहिक अहँ—चाहे वह राष्ट का हो या वर्ग का—व्यक्ति के स्वतंत्रता की चाहना नहीं करता। नात्शीवाद ने पूँजीवाद का स्थान लिया है। दूसरी ओर व्यवहार में साम्यवाद ने तानाशाही राज्यों की स्थापना की है—उन तानाशाही राज्यों की स्थापना जिससे जीवन के सभी पहलू योजनावाधित हो जाते हैं। अभी स्वतंत्रता की लड़ाई डेविड और गोलियाथ जैसी मिथक की लड़ाई प्रतीत होती है। लेकिन हमें विश्वास है कि मनुष्य एक बार पुनः अपनी कृति के फ्रैंकस्टीन को तोड़ेगा और लेवियथान को पालतू कुत्ता बना लेगा।

एक नया राजनैतिक-दर्शन

सब प्रश्नों का प्रश्न है : क्या राजनीति को तर्क-संगत रूप दिया जा सकता है ? इस विवादास्पद प्रश्न के प्रति एक स्वीकारात्मक उत्तर हमें बहुत दूर ले जायगा यदि मनोमयवाद को तर्क के अध्यात्मिक धारणा से भिन्न नहीं समझाया जाता। मार्क्सवादी भौतिकवाद नियतिवाद के स्थान पर तर्क के रहस्यवादी प्रमेय की बात करने से कोई लाभ नहीं होगा। इससे सम्बन्धित प्रश्न राजनीति और नीति से सम्बन्धित है। क्या राजनैतिक व्यवहार ईसाई उपदेश— उद्देश्य माध्यम को निर्धारित करता है, से संचालित होना चाहिए ? क्रान्ति की अन्तिम स्वीकृति की प्रेरणा नैतिक प्रेरणा है, सामाजिक न्याय की प्रेरणा। अतः तार्किक तौर पर इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही होगा। यह एकदम संदेहशील बात है कि नैतिक आदर्श अनैतिक माध्यमों से प्राप्त किये जा सकते हैं। निर्णायक क्षणों में, जब व्यापक मसले और महती बातें बनी रहती हैं, तब व्यवहार में समन्वय की स्वीकृति दी जा सकती है। लेकिन प्रयोग (के रूप) में नैतिक नियमों और परम्परानुगत मानवीय मूल्यों के प्रतिरोध में जब क्रान्तिकारी शक्ति एक स्थाई स्वरूप में स्थापित की गई है तब भी कम्युनिस्ट राजनैतिक प्रयोग संसार के और अन्य वर्गों को स्वतंत्रता के नये आदर्श और सामाजिक न्याय के नजदीक नहीं ले जा पाया है। इसके विपरीत साम्यवाद ने क्रान्ति की सेना को—जिसमें सर्वहारा वर्ग और गैर-सर्वहारा भी सम्मिलित है, मानसिक गड़बड़ाहट, अध्यात्मिक अराजकता, संवेदीय हताशी औरसाधारण पतन की ओर ले गया है।

इस संकट पर अधिकार पा लेने के लिए, नये संसार के लिए संघर्षरत् सेना-नियों को मानवाद की परम्पराओं और नैतिक वास्तविकतावाद की ओर मुड़ जाना चाहिए। क्रान्ति के नये दर्शन की प्रेरणा उन्हीं श्रोतों से प्राप्त की जानी चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी के मौलिक विचारक व्यक्ति-वाद के मानववादी नियमों से प्रभावित होकर धर्म-निरपेक्ष मनोमयवाद और मनोमयवादी नैतिकता को प्राप्त कर लिया था। उन्होंने भौतिक विज्ञान के अन्वेषण को मनुष्य और समाज के अध्ययन पर लागू किया। प्रकृति के सच्चा ज्ञान—(जिसमें स्थावर और जङ्गम दोनों शामिल हैं,) जिसकी

मात्रा आज बहुत बढ़ गई है—से ही आज के मनुष्य के जीवन और अंतर्संबंधों की समस्या का हल सम्भव है। आज हम इस विश्वास से चल सकते हैं कि मनुष्य को प्राग्-इतिहास के बर्बर नियमों से छुटकारा पाये पर्याप्त समय हो गया है और सामाजिक सम्बन्धों को तर्क-संगत तौर पर समन्वित किया जा सकता है। इसलिए नैतिक मूल्यों के प्रति श्रद्धा के कारण भ्रष्ट और जङ्गली यथास्थिति के स्थान पर लोकतांत्रिक स्वतन्त्रता की एक नई व्यवस्था के साथ ताल-मेल बिठाया जाना चाहिए।

तर्क-संगत रूप से संगठित समाज से ही एक नैतिक व्यवस्था कायम हो सकती है, क्योंकि नियमबद्ध भौतिक-विश्व की पृष्ठ-भूमि में मनुष्य मूलतः मनोमय है और इसलिए नैतिक भी है। नैतिकता परस्पर समन्वयपूर्ण और लाभदायी सामाजिक सम्बन्धों को स्थापित करने की चाह से उभरती है।

मनुष्य का पृथ्वी पर पदार्पण शून्य से नहीं हुआ है। वह जैविक विकास के फलस्वरूप भौतिक-विश्व की पृष्ठ-भूमि से उभरा है। उसकी नाल कभी टूटी नहीं है। मनुष्य अपनी समझ, मस्तिष्क, इच्छा शक्ति द्वारा भौतिक-विश्व का अनन्य भाग बना रहता है। भौतिक-विश्व एक नियमित प्रवाह है—एक नियमबद्ध व्यवस्था। इसलिए मनुष्य का होश और है—उसका संवेदन, इच्छा, विचार सबके सब निर्धारित हैं; मनुष्य मूल: मनोमय है। मनुष्य की तर्क-संगति विश्व की ही नियमितता की प्रति-ध्वनि है। नैतिकता का आधार मनुष्य की अन्तर्निहित मनोमयता ही है। केवल तब, मनुष्य नैतिक हो सकता है—स्वतः और ऐच्छिक तौर पर। तर्क ही उस नैतिकता का आधार है; वह विवेक की उपज है और विवेक अपने में परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया है। अन्तिम विश्लेषण में विवेक न तो रहस्यमय, है और न रहस्यवादी। विवेक जैविक प्रक्रिया है और विवेक के स्तर पर यान्त्रिक प्रक्रिया है। मनुष्य की अन्तर्निहित तर्क-संगति ही समन्वित समाज का आश्वासन दे सकती है। वह समन्वित समाज अपने में नैतिक समाज होगा क्योंकि नैतिकता एक मनोमयी प्रतिक्रिया है। इसलिए समूचे सामाजिक प्रयासों का प्रयोजन मनुष्य को क्रमिक तौर पर उसकी अन्तर्निहित तर्क-संगति के प्रति सजग करना है।

समाज के पुनर्संगठन का प्रयास समाज की इकाई से होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि मूल से होना चाहिये। क्रांति के ऐसे दर्शन का प्रयास, समूचे व मानवीय ज्ञान के आधार पर होना चाहिए और तब सिद्धान्तों को बनाना, राज-नैतिक क्रिया के प्रयोग को प्रतिपादित करना और आर्थिक पुनर्निर्माण की बात करने को वास्तविकतावाद कहा जा सकता है।

वास्तविकतावाद न तो राष्ट्र और न वर्ग के अर्थों में विचार करता है। उसका विचार मनुष्य पर केन्द्रित है। वह स्वतंत्रता की कल्पना व्यक्ति की स्वतंत्रता के रूप में करता है। इसलिए इसे नया मानववाद कहा जा सकता है। नया, क्योंकि वह आधुनिक सभ्यता के सदियों से एकत्रित वैज्ञानिक ज्ञान और सामाजिक अनुभव-सम्पन्न मानववाद है।

मानववाद वसुदैवकुटुम्बकं है। वह अन्तर्राष्ट्रीयवाद के उटोपिया के पीछे नहीं भागता जो स्वचालित राष्ट्रीय राज्यों का प्रागानुमान करती है। एक जगत का आदर्श या एक संसार में एक सरकार का आदर्श राष्ट्रीय राज्यों के साथ मेल नहीं खाता है। एक-दूसरे को मनचाही कल्पना के आधार पर खड़ी कर देता है। एक संसारव्यापि ग्राम सरकार स्वतंत्र पुरुषों और स्त्रियों से ही सम्भव है। वह एक आध्यात्मिक समाज होगा। उसकी कोई पूंजीवादी, फासिस्ट, कम्युनिस्ट या और किसी प्रकार की राष्ट्रीय सीमाएं नहीं होगी। वसुदैवकुटुम्बकीय मानववाद के प्रभाव में वे सब सीमाएं ढह जायगी। यही मानव जाति के भविष्य का वास्तविक पहलू है।

वास्तविक लोकतन्त्र

उस दर्शन को जो आधुनिक मानव जाति को नई आशा और नया विश्वास देने की बात करता है, उसे स्वतंत्रता की धारणा को आवश्यक तौर पर स्पष्ट अर्थ देना होगा। यदि सामाजिक संगठनों और राजनैतिक संस्थाओं के उद्धार की संभावनाओं और वर्तमान संकट के हल को अब भी विभिन्न (दुराग्रहों) विरोधी सिद्धांत और बेमेल अंधमत के आधार पर ढूंढा जाता है तो इतिहास के सबसे बड़े संकट का हल कोरी कल्पना रहेगी। स्वतंत्रता का एक साधारण मानदंड ही इस प्रयास को सफल बना सकता है।

स्वतंत्रता की चाह को मनुष्य के अस्तित्व के संघर्ष में ढूंढा जा सकता है। उसी चाह के कारण मनुष्य ने अपने जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति पर विजय पाई है। ज्ञान की खोज का आधार भी उसमें ढूंढा जा सकता है। ज्ञान उसे प्रतीयमान विश्व भौतिक और सामाजिक वातावरण व आतंक से क्रमिक तौर पर स्वतंत्र करता है। स्वतंत्रता की चाह अस्तित्व के जैविक नियमों का ही समझ और संवेदन के आधार पर अर्थ रूपान्तर है। आधुनिक समाज में यदि व्यक्ति को स्वतंत्र रहना है तो उसे केवल आर्थिक सम्पन्नता और सुरक्षा ही आवश्यक नहीं है वरन् उसके लिए ऐसा सामाजिक मनोवैज्ञानिक वातावरण भी आवश्यक है जो सांस्कृतिक योजना-बद्धता से फुल हो और मनुष्य के बौद्धिक और मानवीय योग्यता के विकास में सहायक हो। इस अर्थ में प्रगतिशील रूप में ही समाज में व्यक्ति द्वारा क्रमिक तौर पर स्वतंत्रता प्राप्त करने में ही सामाजिक संगठन की विशेषता है। प्राचीन ज्ञान का सिद्धान्त–मनुष्य ही प्रत्येक मनुष्य का माप है–को ध्यान में रखते हुए भावी दर्शन को यह घोषणा करनी पड़ेगी कि किसी भी सामाजिक संगठन या राजनैतिक संस्था को इस बात से आंका जायेगा कि वह व्यक्ति को कितनी स्वतंत्रता देता है।

चाहे राष्ट्र हो या वर्ग, हर सामूहिकता व्यक्तियों से बनती है। स्वतंत्रता की चाह में समाज का निर्माण व्यक्तियों द्वारा होता है। सम्मिलित सामाजिक सम्बंध मूलतः अस्तित्व के जैविक संघर्ष को बनाये रखने के लिए प्रस्थापित किये गये थे।

आदिम-मानव ने व्यक्ति की हैसियत से ही उन्हें सहेजा था। स्वतंत्रता की चाह आदिम-मानव के अस्तित्व में विद्यमान संघर्ष का सतत् स्वरूप है। इस नाते वह समूची सामाजिक प्रगति की मूल प्रेरणा है। स्वतंत्रता क्रमिक तौर पर उन सब अड़चनों—भौतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक को दूर करने का नाम है—उन अड़चनों को जो व्यक्ति की तर्क-संगत, नैतिक और सृजनात्मक योग्यताओं को बाधित करती हैं। सामाजिक सम्बंधों का कार्य व्यक्तियों के लिए, व्यक्ति के नाते, स्वतंत्रता को पूर्ण-रूपेण प्राप्त करना है। स्वतंत्रता का पूरी तौर पर समाज के व्यक्ति सदस्यों द्वारा भोगा जाना ही किसी समाज की मुक्तिदायकता या प्रगतिशीलता का काम है। अन्यथा सामाजिक मुक्ति और प्रगति के आदर्श भ्रामक हैं।

कोई राजनैतिक दर्शन और सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना एक सीमित क्रांतिकारी महत्व की हो सकती है, यदि वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता की धारणा को केवल भाव वाचक चीज कह कर टाल देता है। एक राजनैतिक व्यवस्था और एक आर्थिक प्रयोग जो हाड़ और मांस के व्यक्ति को एक सामूहिक अहँ के मातहत कर देता है स्वतंत्रता प्राप्ति का उपयुक्त माध्यम नहीं हो सकता। यह तर्क देना बेहूदगी है कि स्वतंत्रता का प्रतिषेध स्वतंत्रता की ओर ले जायगा। सभी तर्क-संगत मानव प्रयासों का प्रयोजन अधिकांश मात्रा में स्वतंत्रता को प्राप्त करना है और स्वतंत्रता केवल व्यक्तिगत स्वतंत्रता के रूप में वास्तविक है।

समाज के आर्थिक पुनर्गठन से स्वतन्त्रता के नये संसार का निर्माण स्वत: नहीं हो जायेगा। न ही स्वतन्त्रता राजनैतिक दल द्वारा शोषित और पददलित वर्गों के नाम पर सत्ता हथिया लेने में ही आवश्यक तौर पर आ जायेगी। व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन, उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार और नियोजन आर्थिकता अपने आप में श्रम के शोषण को समाप्त नहीं कर देती और न ही धन के सम बंटवारे की ओर ले जाती है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को तकनीकी सुचारुता और सामूहिक प्रयास का पूरा लाभ उठाने के बहाने हर लेने से नियोजित आर्थिकता अपने ही गंतव्य को पराजित कर देती है। उससे आर्थिक समता और सामाजिक न्याय के आधार पर एक ऊँचे प्रकार का लोकतन्त्र लाने के बजाय राजनैतिक तानाशाही स्थापित हो जायेगी। आर्थिक लोकतन्त्र राजनैतिक लोकतन्त्र की अनुपस्थिति में सम्भव नहीं है और इसके संदर्भ में उन लोगों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये जो आर्थिक नियोजन को देवत्व प्रदान करते हैं।

मौलिक प्रश्न यह है : योजना किसलिए? यह मान लिया जाता है कि नियोजित आर्थिकता बहुजन हिताय बहुजन सुखाय का आश्वासन देती है। दूसरे

शब्दों में उसका अर्थ धन का सम वितरण होगा—वह सामाजिक न्याय को विस्थापित करेगी। उस दशा में, आयोजन का स्वतन्त्रता के साथ ताल-मेल बिठाना होगा। यदि आधुनिक तकनीक में ऐसे ताल-मेल की सम्भावना नहीं है, तब उसे दूर करना होगा ताकि मानव-खुशहाली बनाई रखी जा सके। मशीन आधुनिक सभ्यता का फ्रेंकेस्टीन नहीं बन जानी चाहिये। मनुष्य द्वारा निर्मित हो जाने के कारण उसे मनुष्य के प्रयोजन को ही पूरा करना चाहिये—उसकी स्वतन्त्रता में चार चाँद लगाने चाहिये।

किसी भी प्रकार की तानाशाही, उसके लिए चाहे कितना ही तार्किक बहाना क्यों न हो वास्तविक मानववादी सामाजिक निरुपण में नहीं आती। राजनीति को नैतिकता से स्वतन्त्रता के वांछित उद्देश्य को बिना खतरा पहुंचाये विलग नहीं किया जा सकता। यह एक अनुभव सिद्ध बात है कि अनैतिक माध्यम आवश्यक रूप से उद्देश्य को भ्रष्ट कर देता है। सोवियत संघ में सर्वहारा तानाशाही शाश्वत बने रहने की बात कर रही है। वह साम्यवाद के समरूप हो गई है। उद्देश्य माध्यम हो गये हैं। यहां राज्य के विलीन होने की कोई आशा प्रतीत नहीं होती। यदि सोवियत संघ में समाजवादी समाज की स्थापना हो गई है, तो संक्रांति काल समाप्त हो गया है और तानाशाही हट जानी चाहिये थी। जब तक कि कोई दूसरे राजनैतिक दल को बना रहने नहीं दिया जाता या सर्वहारा वर्ग की पार्टी तानाशाही के साथ समाप्त नहीं हो जाती तब तक यह कहना व्यर्थ है कि ऊंचे प्रकार का लोकतन्त्र स्थापित हो गया है।

पाश्चात्य लोकतन्त्र का प्रयोग और भी हतोत्साहपूर्ण है। परम्परानुगत लोकतान्त्रिक समाजवाद, इसलिए, सफलता का विश्वास पैदा नहीं करता। लोकतन्त्र को अपना मूल्यांकन करना होगा। उसे मानववादी परम्पराओं का सहारा लेना होगा। उसे केवल मत-गणना तक ही सीमित नहीं रखना होगा। विशेषकर उस दशा में जब उसे अपना सिर गौरव के साथ उठाने का अवसर प्राप्त नहीं है। औपचारिक संसदात्मकता का स्थान वास्तविक लोकतान्त्रिक व्यवहार को ले लेना चाहिये। दल के चरित्र को उसको कितने मत मिले हैं, इससे नहीं जांचना चाहिये वरन् उसके उद्घोषित नियमों और प्रकाशित कार्यक्रम के आधार पर आंकना चाहिये। जनता को वायदों पर मत देने को नहीं कहा जाना चाहिये वरन् सरकार के कार्यों के आधार पर मत देने की बात की जानी चाहिये। लोकतांत्रिक व्यवहार मतों की गणना होने के कारण अन्तिम विश्लेषण में सामूहिक अहँ की उपासना ही है। वह न तो व्यक्ति के लिए और न समझ के लिए कोई ठौर देता है। औपचारिक संसदात्मक पद्धति के अन्तर्गत विवेकहीन लोक नेता ही शीर्ष स्थान पाते हैं। समझ, सच्चाई, विद्वता, नैतिक चातुर्य की ओर सामान्यत: एक नियम की तरह, ध्यान नहीं

दिया जाता। अतः जब तक इन मानवीय मूल्यों का कार्यकारी प्रभाव समाज के राजनैतिक संगठनों और प्रशासनों पर नहीं पड़ता तब तक लोकतान्त्रिक जीवन पद्धति को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

आज के संसार में मानववादी स्त्री-पुरुषों की कमी नहीं है। विवेकहीनता के प्रति तिरस्कार होने से वे जन-जीवन में शीर्ष स्थान नहीं प्राप्त कर सकते। दूसरी ओर तानाशाही सरकार चाहे वह किसी माध्यम से प्रशंसनीय उद्देश्य के लिए स्थापित हुई हो, अच्छे मानववादी विचारकों को उभरने नहीं देगी। अतः औपचारिक संसदात्मक लोकतन्त्र और तानाशाही के बीच, आध्यात्मिक तौर पर स्वतंत्र व्यक्तियों का अपने संचालन में सहयोग नहीं लेती और स्वतंत्रता के उद्देश्य को आगे बढ़ाने में असक्षम रहती है।

इस आशय पर कि योजना-बद्धता मानव क्रियाशीलता को रोकती है, तानाशाही की आलोचना जब तक व्यर्थ होगी तब तक कि लोकतांत्रिक शासन में जन-जीवन को मानव मूल्यों द्वारा प्रभावित नहीं होने दिया जाता। साधारण लोगों को तानाशाही के प्रभाव से अलग करने के लिए आवश्यक है कि स्वतंत्रता, लोकतन्त्र को आधुनिक संस्कृति के मानववादी प्रभाव को अंगीकार करें—वहीं उसकी स्थापना में सच्चा और सीधा रास्ता होगा। मनुष्य को फिर से प्रत्येक वस्तु का माप मानना होगा। समझ, सच्चाई, बुद्धि, नैतिक चातुर्य ही नेतृत्व के लिए परीक्षा की चीजें होंगी। लोकतन्त्र को केवल मान लेने से ही काम नहीं चलेगा। आज स्वतन्त्रता के विचार प्रेमी इस चुनौती पूर्ण प्रश्न से विचलित हैं: क्या लोकतन्त्र सम्भव है? लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रवर्तक, तानाशाही के परित्याग में सही होते हुए भी, आज के युग को प्रश्न का संतोषजनक उत्तर देने में असफल रहे हैं। मूलभूत लोकतांत्रिक नियम 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब जन-जीवन के संचालन का भार आध्यात्मिक तौर पर स्वतन्त्र व्यक्तियों के हाथ में हो। ऐसे व्यक्ति के हाथ में जो अन्य लोगों और अन्य बातों की तुलना में अपने विवेक से काम लेते हैं।

नैतिक स्वीकृति, आखिरकार सबसे बड़ी स्वीकृति है। संसदात्मक लोकतंत्र का वास्तविक आश्वासन नियम नहीं हैं, वरन् सत्तारूढ़ बहुमत का दैनिक विवेक है। अन्तिम विश्लेषण में तानाशाही का आधार भी नैतिक स्वीकृति ही है; वह माध्यम को उद्देश्य के लिए मानता है। समूह नैतिकता सत्ता के मोह के सामने टिकती नहीं है। मूल्य व्यक्तियों द्वारा ही प्रभावी होते हैं। इसलिए बौद्धिक तौर पर स्वतन्त्र व्यक्तियों द्वारा बनी सरकार ही, जो अपने ही विवेक के प्रति उत्तरदायी होते हैं,

बहुजन हिताय बहुजन सुखाय को लागू करने का बड़ा आश्वासन दे सकते हैं। लोकतन्त्र को ऐसा पुनर्मूल्यांकन कर लेना चाहिए यदि उसे आधुनिक संकट से उबरना है और तानाशाही के थपेड़ों का प्रतिरोध करना है।

यहां जो कुछ सुझाव दिया गया है वह 'बौद्धिक-तत्वों' के राज्य का सुझाव नहीं है, परन्तु समाज का एक ऐसा संगठन है जो कार्यकारिणी के संचालन को स्वतंत्र व्यक्तियों के हाथ में देकर व्यक्तियों की योग्यताओं को उभारने का पूरा अवसर देगी उन न्यस्थ स्वार्थों से और सामूहिक अहँ की ख्याली दौड़ से जो विवेकहीन भावना के तत्काल प्रभाव में आ जाते हैं। लोकतांत्रिक व्यवहार को केवल नियतकालीन चुनावों तक ही अपने को सीमित नहीं रखना चाहिए। चुनाव यदि बालिग मताधिकार पर होते हैं और कार्य-कारिणी का भी चुनाव होता है, तब भी लोकतन्त्र एक औपचारिकता ही रहेगा। सत्ता थोड़े समय के लिए भी प्रतिनिधित्व लोकतन्त्र का दम घोट देती है। जनता के लिए वैसी सरकार कभी भी जनता की और जनता द्वारा सरकार नहीं हो सकती।

जनता सरकार में केवल तभी हाथ बंटा पायेगी जब राज्य स्थानीय संगठित लोकतांत्रिक संस्थाओं की नींव पर खड़ा होगा। इन लोकतांत्रिक संस्थाओं का प्राथमिक कार्य व्यक्तिगत नागरिकों को अपने मूलभूत प्रभु सम्पन्न अधिकारों के प्रति सजग रखकर उनका उपयोग समझ और सदाचारी तरीके से करवाना होगा। लोकतांत्रिक राज्य का व्यापक आधार, जो समूचे समाज के समरूप होगा, राजनैतिक विद्यालयों के जाल पर ही आधारित होगा। वापसी और निर्वाचक-सिद्धान्त स्थानीय संगठित लोकतांत्रिक संस्थाओं का समूची राजनैतिक मशीन पर कार्यकारी प्रभाव डालने से ही सम्भव हो सकेगा। उन्हें ही केवल चुनाव के लिए उम्मीदवार नामजद करने का अधिकार होगा। लोकतन्त्र को पार्टी के ऊपर रखा जायेगा। व्यक्तियों को उनकी योग्यता के आधार पर पहचानने का अवसर मिलेगा। दलीय स्वामिभक्ति और दलीय संरक्षण या दूसरे प्रकार की निरंकुशता, बौद्धिक स्वतंत्रता, नैतिक सच्चाई और तटस्थ बुद्धिमानी को ग्रस्त नहीं कर सकेगी।

दूसरे शब्दों में जो कुछ यहाँ प्रस्तावित किया जा रहा है वह ऐसी परिस्थितियों को बनाने के लिए किया जा रहा है जिससे लोकतन्त्र सम्भव हो सकेगा। प्रथम स्थिति में जनता में स्वतन्त्रता के प्रति प्रेरणा बनाये रखने के लिए सम्पूर्ण और जागरूक प्रयास किये जाने चाहिए ताकि जनता का अपने में विश्वास रह सके और अपने को भावी निर्माता कह सके। जो अपनी स्वतन्त्र सोचने की शक्ति का संचय कर सकेंगे—उस शक्ति का जो किसी परकीय सत्ता को सिर नहीं झुकायेगी और

स्वतन्त्रता का किसी भी हेय स्थिति से सौदा नहीं करेगी । मनोमयवाद, व्यक्तिवाद, वसुधैवकुटुम्ब और मानववाद पर आश्रित नवजागरण लोकतन्त्र की स्थापना के लिए और अपनी स्वयं की रक्षा कर लेने की क्षमता के लिये आवश्यक है ।

ऐसा वातावरण बौद्धिक स्वतन्त्रता को प्रोत्साहित करेगा जो मानव मूल्य की विजय को सम्भव बनायेगी । राष्ट्र केवल नैतिक (गुण) व्यक्ति को सामूहिक अहँ पर बिना बलि दिये--चाहे वह सामूहिक अहँ राष्ट्र को लेकर हो या वर्ग को लेकर मानव समाज को एक सही आकार देगा । उन स्त्री और पुरुषों के प्रति जिनमें वह बौद्धिक गुण होगा, जनता में श्रद्धा बनेगी और समाज के नेता के रूप में मान लिये जायेंगे । विवेकहीनता घाटे की चीज होगी । लोकतांत्रिक व्यवहार सामयिक चुनावों का ही दूसरा नाम नहीं होगा । जनता केवल "भीड़" का दूसरा नाम नहीं होगा ।

लोकतंत्र परिस्थिति पर नियन्त्रण पा ले, इसमें समय लग सकता है । संक्रान्ति काल में, राज्य के लोकतांत्रिक विधान में क्रियात्मक चातुर्य, बौद्धिक तटस्थता और नैतिक सच्चाई के लिए उच्च स्थान दिया जाना चाहिए ताकि कार्यकारिणी की सलाह से पथ-प्रदर्शन कर उसे प्रभावित कर सके । संक्रांति काल में लोकतन्त्र की परिधि से चुनींदा और गैर-चुनींदा दोनों प्रकार के लोगों के लिए स्थान होना चाहिए जब तक कि समूचे समाज का बौद्धिक और नैतिक धरातल अच्छा स्तर प्राप्त न करले तब तक चुनाव अच्छे तत्वों को उभारकर ऊपर नहीं ला सकेगा । जब तक बौद्धिक तटस्थता और नैतिक सच्चाई को उभारकर परिस्थितियों का अंक नहीं बना दिया जाता, तब तक लोकतन्त्र स्वयंभू नहीं हो सकेगा ।

संक्रांति काल के दौरान में—राज्य सभा को ऐसे विशेष-अधिकार होने चाहिए-कि वह विज्ञान, बुद्धि, ईमानदारी, समझ और नैतिक सुन्दरता के अधिकारी व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व कर सके-ऐसे व्यक्तियों का जो सामान्यतः राजनीति की भभ्भड़ से दूर रहते हैं और जो पेशेवर राजनीतिज्ञों में नहीं पाये जाते । समाज के अधिकृत नेताओं की सेवाओं को इस प्रकार काम में लिया जा सकता है ।

हर पेशेवर समुदाय—अभियांत्रिकी, अर्थ-शास्त्रियों का, वैज्ञानिकों का, चिकित्सकों का, न्यायविदों का, इतिहासज्ञों का और अन्य भी जो बौद्धिक, साहित्यिक या और किसी सृजनात्मक धंधों में लगे हो, उनके नाम राज्य सभा की सदस्यता के लिये अनुमोदित किये जा सकते हैं । उनको राज्य के अधिपति मनोनीत करेंगे और ये मनोनीत सदस्य भी ऐसे अधिकारी व्यक्तियों के नाम—जो किसी समुदाय विशेष से सम्बन्धित नहीं होंगे —सुझाने के अधिकृत होंगे । केवल ध्यान इस बात का रखा

जायगा कि कहीं ऐसे व्यक्ति राज्य-सभा में मनोनीत न हो जायें जो पहले से लाभ-शुभ वाली संस्थाओं से सम्बन्धित हों । उनके कर्मचारी इसके अपवाद हो सकते हैं । समाज की बहुमुंखी (स्वास्थ्य, शिक्षा, अर्थ और संस्कृति आदि) विकास की योजनाओं का कार्य और योजना की क्रियान्विति और पथ-प्रदर्शन का अधिकार भी राज्य सभा में समाहित होगा ।

समाज के आर्थिक-जीवन को न्यस्थ स्वार्थों के भ्रष्ट और पक्षाघाती प्रभाव से क्रमिक तौर पर मुक्त करने का आरम्भिक प्रयास किया जाना चाहिए । इसके फलस्वरूप बौद्धिक स्वतंत्रता अधिक मात्रा में उपलब्ध होगी । दूसरे इन लोगों को ही जन-खुशहाली के सच्चे संरक्षक माना जायगा और उन्हें इस रूप में कार्य करने का अवसर भी दिया जायेगा । यदि लोकतंत्र के पकने के पहले मतों की गणना को ही प्रतिनिधित्व मान लिया जाता है तो अच्छे नेतृत्व की आशा नहीं लगाई जा सकती ।

वास्तविकतावाद समाज के आर्थिक पुनर्गठन का प्रागानुमान करती है ताकि मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को समाप्त किया जा सके । भौतिक आवश्यकताओं का क्रमिक उपभोग व्यक्ति की योग्यताओं और सुगढ़ता के लिए आवश्यक है । वास्तविक लोकतांत्रिक राज्य का आधार लोगों के जीवन स्तर के लगातार ऊपर उठने का ही होगा ।

नई सामाजिक व्यवस्था की आर्थिकता का आधार मनुष्य की आवश्यकताओं को देखते हुए उपभोग के लिए उत्पादन और वितरण होगा । उसका राजनैतिक संगठन सत्ता के प्रतिनिधित्व में नहीं होगा क्योंकि वह व्यवहार में जनता को क्रियात्मक सत्ता से महरूम कर देता है । जन समितियों द्वारा उसमें समूची जनता भाग ले सकेगी । उसकी संस्कृति का आधार सार्वजनिक ज्ञान के प्रसारण, वैज्ञानिक और दूसरे प्रकार के सभी क्रियात्मक कार्यों के प्रति आस्था का होना होगा । नया समाज, क्योंकि उसका आधार ज्ञान और तर्क पर आश्रित होगा, इसलिए आयोजित होगा । लेकिन वह आयोजन व्यक्ति की स्वतंत्रता को मूल उद्देश्य बना कर होगा । नया समाज लोकतांत्रिक होगा—राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तौर पर । वह ऐसा लोकतंत्र होगा जो अपनी स्वरक्षा कर सकेगा ।

वास्तविक लोकतंत्र का उद्देश्य बौद्धिक तौर पर स्वतंत्र व्यक्तियों के सामूहिक प्रयासों से ही प्राप्त होगा जो राजनैतिक दल के रूप में संगठित होकर नये स्वतंत्र समाज के रूप में कटिबद्ध रहेंगे । पार्टी के सदस्य जनता के लिए पथ-प्रदर्शक, मित्र और दार्शनिक के बतौर काम करेंगे न कि होने वाले शासकों के रूप में । स्वतंत्रता के उद्देश्य के समरूप होने के कारण पार्टी का राजनैतिक व्यवहार नैतिक और तर्क-संगत होगा ।

जनता में स्वतंत्रता की भावनाओं के बढ़ने के साथ पार्टी की भी बढोतरी होगी और जागरूक जन-मत और तर्क-संगत कार्यों के आधार पर वास्तविक लोकतांत्रिक राज्य की स्थापना में योग देगा। यह जानते हुए कि सत्ता का केन्द्रीकरण स्वतंत्रता की धारणा से मेल नहीं खाता, यह दल सत्ता हथियाने का प्रयास नहीं करेगा। वह लोकतंत्र को जन-समितियों के गठन में मदद करेगा जो अंततोगत्वा लोकतांत्रिक सत्ता का अंग बन जायेंगी। राज्य, इस तरह समाज के साथ समकक्ष हो जाने के कारण शोषण की मशीन नहीं रहेगा। अंत में कहना होगा कि लोकतंत्र जनता द्वारा और जनता का शासन है—की स्थापना सम्भव हो सकेगी।

अंतिम विश्लेषण में, नागरिक की शिक्षा ही ऐसे पुनर्गठन की आवश्यक स्थिति है जिससे सामान्य प्रगति और सम्पन्नता बिना व्यक्ति की स्वतंत्रता को दखल दिये सम्भव हो सकेगी। वास्तविक लोकतांत्रिक राज्य नागरिकों के लिए राजनैतिक और सामाजिक ज्ञान देने की पाठशाला होगी। उसका कार्य जन-कार्य में तटस्थ व्यक्तियों को सर्वोपरि स्थान देने का होगा। ऐसे व्यक्तियों द्वारा राज्य का संचालन होने के नाते राज्य लेवियथान नहीं होगा जो भय से उत्पन्न अविश्वास पैदा करता हो।

क्रांतिकारी और मुक्तिदायक सामाजिक दर्शन का कार्य इतिहास के इस तथ्य को महत्व देने में होगा कि मनुष्य एक विचारक होने के नाते इतिहास का निर्माता है—और वह ऐसा निर्माण केवल व्यक्ति की हैसियत से ही कर सकता है।

मस्तिष्क उत्पादन का साधन है और वह अत्यन्त क्रांतिकारी माल उत्पन्न करता है। क्रांति मूर्ति तोड़क विचारों का प्रागानुमान करती है। अपनी सृजनात्मकता के प्रति सजग अन्य व्यक्ति, संसार के निर्माण के प्रति दृढ़ प्रतिज्ञ, विचारों की उड़ान से प्रभावित, स्वतंत्र समाज के आदर्श से प्रभावित लोग ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर सकेंगे जिससे लोकतंत्र सम्भव हो सकेगा। बौद्धिक तौर पर स्वतंत्र व्यक्तियों के सत्ता में आने से, सभी प्रकार की गुलामी की जंजीरें तोड़ी जा सकेंगी और सबके लिए स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकेगी।